

भारतीय धर्म तथा दर्शन की विचारधारा का संक्षिप्त इतिहास

Varanasi

: लेखक :

श्री स्वामी कृष्णानन्द

H. K. Jha



: भाषान्तरकर्ता :

श्री स्वामी अध्यात्मानन्द

: प्रकाशक :

दिव्य जीवन सङ्घ,

पत्रालय—शिवानन्दनगर—२४६ १६२,

जिला टिहरी-गढ़वाल (उत्तर प्रदेश), भारत ।

मूल्य]

१६८२

[तेरह रुपये

किसी भी विषय का अध्ययन
 करने की दो विधियाँ हैं—
 प्रक्रिया के रूप में देखना तथा
 तत्त्व के रूप में इसका मूल्याङ्कन
 करना। प्रथम विधि के अन्तर्गत
 य को इतिहास मान लिया जाता
 है। दूसरी विधि में इसे उस स्थायी
 तत्त्व के रूप में देखा जाता है जो
 इतिहास के कालखण्ड में गतिमान
 रहता है। इससे अप्रभावित रहता
 है। किसी भी व्यक्ति, समाज तथा
 संसार सम्बद्ध रहते हैं
 लिए मानव, व्यक्ति
 तन्तुशील तथा विकास
 —साथ ही, यह एक ऐसी
 जो अनुलनीय तथा
 आलातीत है। इसी प्रकार
 प्रकटोत्पत्तियों, गुणों, स
 शीर. कर्मों में भी स्व
 विशिष्टता पायी जाती है।
 इतिहास मानवीय विचार
 से यथार्थता को प्रकट
 प्रक्रिया है। दूसरी ओर
 दर्शन का कार्य इतिहा
 के नीचे छिपे हुए मो
 निकालना है।

RG 19

२६२८

189/192

पुष्पिका
मितात्रिता

ॐ शुभं भवतु । वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
आगत क्रमांक..... २६२८
दिनांक.....

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri



श्री स्वामी कृष्णानन्द हीरक-जयन्ती प्रकाशन-माला— षष्ठ पुष्प

भारतीय धर्म तथा दर्शन की
विचारधारा का संक्षिप्त इतिहास

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

किं ज्ञेयं किं कर्तव्यं किं मोक्षं
प्राप्तयेत्तु भक्त्या तत्र तत्र

भारतीय धर्म तथा दर्शन की विचारधारा का संक्षिप्त इतिहास

: लेखक :

श्री स्वामी कृष्णानन्द



: भाषान्तरकर्ता :

श्री स्वामी अध्यात्मानन्द

: प्रकाशक :

दिव्य जीवन सङ्घ,

पत्रालय—शिवानन्दनगर — २४६ १६२,

जिला टिहरी-गढ़वाल (उत्तर प्रदेश), भारत ।

मूल्य]

१६८२

[तेरह रुपये

‘डिवाइन लाइफ सोसायटी’ के लिए श्री स्वामी कृष्णानन्द जी द्वारा प्रकाशित तथा श्री देवेन्द्र विज्ञानी जी द्वारा ‘विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश - २४६ २०१, जिला देहरादून (उ० प्र०)’ में मुद्रित ।

R6: 8x
152 M2
प्रथम (हिन्दी) संस्करण — १६८२
(२००० प्रतियाँ)

डिवाइन लाइफ ट्रस्ट सोसायटी द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

❀ मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय ❀

आगत क्रमांक..... २६२८

दिनांक.....

: प्राप्ति-स्थान :

शिवानन्द प्रकाशन संस्थान,

दिव्य जीवन सङ्घ,

पत्रालय—शिवानन्दनगर = २४६ १६२,

जिला दिहरी-गढ़वाल (हिमालय), उ०प्र०, भारत

प्रकाशकीय वक्तव्य

दिव्य जीवन सङ्घ के प्रकाशनों में आन्तरिक भारत की संरचना पर प्रकाश डालने वाली प्रस्तुत पुस्तक का एक विशिष्ट स्थान है; क्योंकि इसमें भारतीय संस्कृति में रचि रखने वाले विद्यार्थियों के लिए इसका (संस्कृति का) सर्वोत्कृष्ट सारतत्त्व तथा भारत देश के बारे में जानने के इच्छुक पाठकों के लिए इसके अन्तरतम की सजीव रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है।

इस पुस्तक में प्रस्तुत चिन्तन का विशाल क्षेत्र वेदों से ले कर उपनिषदों तथा स्मृति-ग्रन्थों तक फैला हुआ है जिसमें पुराण, भगवद्गीता, आचरण का धार्मिक पक्ष तथा भारतीय दार्शनिक परम्पराएँ भी सम्मिलित हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ की रूपरेखा के अनुसार इसके दूसरे खण्ड में उन विषयों पर प्रकाश डाला जायेगा जिनकी चर्चा इस पुस्तक में नहीं की गयी है, यथा—आगम, तन्त्र, बौद्ध और जैन दर्शन सहित विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएँ, योग-साधनाएँ आदि।

यह पुस्तक मूल अंग्रेजी ग्रन्थ 'A Short History of Religious and Philosophic Thought in India' का अनुवाद है।

[पाँच]

श्री आनन्दप्रकाश जी ने अनुवाद की पाण्डुलिपि का आद्यो-
पान्त संशोधन बड़े ही श्रम से करके अनुवाद के भावों को मूल
पुस्तक के भावों के निकट लाया, अर्थक्लिष्टता का निवारण किया
तथा भाषा के प्रवाह को अजस्र बनाया। इससे अनुवाद की
भाषा बहुत-कुछ मौलिक पुस्तक की भाषा बन गयी। श्री आनन्द-
प्रकाश जी इस संस्था के अपने ही व्यक्ति हैं; अतएव उनके प्रति
आभार व्यक्त करना कोरी औपचारिकता ही होगी। फिर भी
व्यवहार में ऐसा करना होता है। हम हिन्दी-भाषी जनता की ओर
से उनके प्रति अपना कृतज्ञ भाव व्यक्त करते हैं। प्रभु उनको उनके
अभीष्ट दिव्य लक्ष्य में आशातीत सफलता प्रदान करें! यह ही
हार्दिक मङ्गलकामना है। विज्ञान-प्रेस, ऋषिकेश के स्वामी तथा
व्यवस्थापक आदरणीय श्री देवेन्द्र विज्ञानी जी के भी हम कृतज्ञ
हैं जिनके मुक्त सहयोग के कारण ही समयभाव के होते हुए भी
'श्री कृष्णानन्द हीरक-जयन्ती प्रकाशन-माला' के छः पुष्पों का
मुद्रण काल-सीमा-परिवेश में सम्भव हो पाया। भगवान् उनको
तथा उनके धर्मानुरागी परिवार के सभी सदस्यों को स्वास्थ्य,
सुख तथा समृद्धि प्रदान करें जिससे वे आध्यात्मिक साहित्य की
अधिकाधिक सेवा करने में सक्षम हो सकें!

शिवानन्दनगर,

२५ अप्रैल, १९८२

—दिव्य जीवन सङ्घ

आमुख

धर्म तथा दर्शन के कई इतिहास-ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं और इस पुस्तक के माध्यम से उनकी तरह एक और इतिहास प्रस्तुत करने का मेरा विचार नहीं है। न ही मैं पूर्व-प्रकाशित इतिहासों की विषय-सामग्री में मात्र कुछ नये तथ्य जोड़ना चाहता हूँ। इस कृति का उद्देश्य दूसरा ही है। मैं मूल्यों की व्याख्या का सही तरीका तथा भारतीय दर्शन और धर्म के अध्ययन का उचित अभिगम (Approach) सुझाना चाहता हूँ। यह न केवल उचित है वरन् विद्यार्थियों के मन में यह बात बैठाने के लिए आवश्यक भी है कि उन्हें जीवन के प्रति एक व्यापक तथा सहिष्णु दृष्टिकोण अपनाना है। मेरा यह विचार है कि धर्म तथा दर्शन की शिक्षा प्रदान करने की पद्धति ठीक नहीं है। इसी कारण वर्तमान समय के विश्वविद्यालयों में मानव-जीवन के इस महत्त्वपूर्ण विषय (धर्म तथा दर्शन) को वैकल्पिक (यहाँ तक कि भार-रूप भी) विषय मान लिया गया है। 'संस्कृति : पुनरुत्थान की ओर' नामक पुस्तक में मैंने धर्म-चेतना की दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर अधिक (तथा मानव-जाति की विभिन्न सामाजिक प्रतिक्रतियों में बन जाने वाले धर्म के रूपों पर कम) प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

[सात]

दूसरी ओर, प्रस्तुत पुस्तक में मैंने ऋषि-मुनियों के उपदेशों तथा धर्मवैधानिक ग्रन्थों में प्रस्तुत किये गये युगों-युगों से इस धर्म-चेतना के विकास में योगदान देने वाले मूलभूत सिद्धान्तों के बारे में बताने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में इस बात पर विचार किया गया है कि भूतकाल से वर्तमान समय तक धर्म-चेतना का विकास किस-किस प्रकार और किन-किन परिस्थितियों में हुआ है। इस दृष्टिकोण से पुस्तक को इतिहास कहा जा सकता है; परन्तु यह घटनाओं तथा विचारधाराओं की सूची प्रस्तुत करने वाला इतिहास नहीं है। धार्मिक चेतना शाश्वत होती है, परन्तु संसार में धर्मों की संरचना अल्पकालिक होती है, क्योंकि मानव-मन की परिवर्तित होती हुई माँगों के अनुसार ही उसे (संरचना को) अनुकूल बनाया जाता है। वास्तविक धर्म-चेतना की विभिन्न अवस्थाएँ इस पुस्तक की प्रमुख विषय-सामग्री हैं।

धार्मिक उपदेशों में से धार्मिक तत्त्व ढूँढ निकालना तथा विभिन्न दार्शनिकों की विचारधाराओं में से दार्शनिक-चेतना को आत्मसात् करना सरल कार्य नहीं है; क्योंकि सदा इस बात का भय रहता है कि उपदेशों तथा विचारधाराओं के अथाह सागर में कहीं अन्वेषक डूब न जाये। विभिन्न भाषाओं तथा न्यूनाधिक प्रभावोत्पादक शब्दों में धर्माचार्यों ने धर्म के तत्त्वों का निरूपण किया है; परन्तु उन्होंने एक ही सत्य पर प्रकाश डाला है, यद्यपि अपने समय की आवश्यकताओं के अनुकूल उन्होंने इस सत्य के एक या एक से अधिक पहलुओं पर विशेष बल दिया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि विभिन्न धर्म एक-दूसरे से असम्बद्ध हैं तथा उनमें कोई सामान्य तत्त्व है ही नहीं। यदि ऐसा सोचा जायेगा, तो यह धर्म में निहित सत्य की विडम्बना होगी। यदि धर्म हमें

पूर्णता की ओर ले जाता है, तो सतही विचारधारा वाले व्यक्तियों की धर्मान्धता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। धर्माचरण करने से व्यक्ति में उदारता, प्रियता, परोपकारिता तथा दिव्यता के गुण उत्पन्न हो जाते हैं। दर्शन धर्म का तर्कधार (Rationale) है। दर्शन तथा धर्म अविच्छेद्य हैं।

यह स्वाभाविक है कि इस पुस्तक की ऐतिहासिक विचारधारा और अधिक अध्ययन करने तथा शोध-कार्य में प्रवृत्त होने की सामग्री प्रस्तुत करती है। यह धर्मग्रन्थों तथा भारतीय धर्माचार्यों के उपदेशों में छिपी वैचारिक सम्पत्ति की सङ्कलित है। विद्यार्थियों को हृदय निश्चय तथा धैर्य के साथ इस वैचारिक सम्पत्ति के सागर की याह लेनी पड़ेगी।

जिन प्राचीनतम ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए, वे हैं—वेद-संहिता तथा उपनिषद्। उपनिषदों में वैदिक विचारधारा का परमोत्कर्ष मिलता है। ये भारतवासियों की भव्य विरासत हैं। महाकाव्यों तथा पुराणों में वेद-उपनिषदों की विषय-वस्तु को विस्तार से ऐसी भव्य शैली में प्रस्तुत किया गया है जो भावनाओं को उद्दीप्त करती तथा बोध को उन्नत बनाती है। भगवद्गीता इस प्रकार के साहित्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। योगवासिष्ठ उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मसाक्षात्कार के सर्वोच्च शिक्षकों की आधारशिला पर बने रहस्यात्मक प्रासाद के समान है। धर्म तथा नीति मानव-आत्मा के दो पङ्ख हैं जिनकी सहायता से वह अज्ञात लोक के आकाश में उड़ान भरने का प्रयत्न करता है।

आगम तथा तन्त्र आचरण और नियमों की व्यावहारिक संहिताएँ हैं। इन आचरण तथा नियमों की चरम परिणति संसार

तथा पवित्र मन्दिरों में ईश्वर की उपासना के रूप में होती हैं। दर्शन (दार्शनिक विचारधारा) परम यथार्थता को हृदयङ्गम करने की मानव-आकांक्षा के विकास की क्रमबद्ध शृङ्खला है। चार्वाक दर्शन के अनुसार बाह्य-स्थूल, विषयपरक भौतिक संसार ही सब-कुछ है तथा प्रत्येक वस्तु केवल भौतिक तत्त्व का ही रूप है। वैशेषिक तथा न्याय दर्शनों के अनुसार भौतिक तत्त्वों के पृष्ठभाग में कुछ घटक निहित होते हैं जो चरम तत्त्व के समान प्रतीत होते हैं। मीमांसा दर्शन इन घटकों में भौतिक विभिन्नता का प्रतिपादन करता है तथा उनमें दिव्यता सन्निहित मानता है।

साङ्ख्य दर्शन के अनुसार इस विषयपरक ब्रह्माण्ड में सङ्घटकों के रूप में अनेक चरम तत्त्व नहीं होते। इसमें विविध प्रकार के प्रकटीकरणों का एक ही उत्पत्ति-स्थान है—प्रकृति। इसे सन्तुलित करते हैं पुरुष नामक द्रष्टा चेतना के केन्द्र। साङ्ख्य का मनोविज्ञान वैशेषिक तथा न्याय दर्शन के भौतिक विज्ञान तथा मीमांसा दर्शन के अनेकवाद की अपेक्षा वस्तुतः उन्नत है। परन्तु चेतना अपने और बाह्य संसार के बीच खाई बनी रहने की स्थिति में सन्तुष्ट नहीं रह सकती। योग के अनुसार ईश्वर-तत्त्व इन दोनों में एक सम्बन्ध स्थापित करता है। परन्तु इसमें एक दोष यह है कि यह सम्बन्ध नितान्त यान्त्रिक है। लगातार बने रहने वाले इस अन्तर से आत्मा को सन्तोष नहीं मिलता तथा वह अपेक्षाकृत अधिक गहन चिन्तन से इस अन्तर को समाप्त करना चाहती है। यही वेदान्त की विचारधारा है। वेदान्त विषय और विषयी के द्वित्व, त्रिदेव (Trinity of God) और संसार तथा जीवात्मा से ऊपर उठ कर अनुभव की सार्विकता की एकता के स्तर पर पहुँच जाता है। यह वह चरम बिन्दु है जहाँ तक मानव-मन पहुँच सका है अथवा पहुँचने की आशा रखता है।

दशन के इतिहास में जैन तथा बौद्ध दर्शन बहुत महत्त्वपूर्ण हैं तथा उनमें सर्वोत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के तत्त्व मिलते हैं। दर्शन के विभिन्न मत एक-दूसरे के पूरक हैं, न कि परस्पर विरोधी। ये एक-दूसरे को उस उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सहायता करते हैं जो अपने से निम्नस्तरीय लक्ष्य से श्रेष्ठ है, परन्तु उसमें अन्तर्निहित भी है। विभिन्न दार्शनिक मतों के समर्थकों द्वारा एकान्तिक विचारधारा अपनाये जाने के कारण यह भूलभरी धारणा बन गयी है कि एक विचारधारा दूसरी की विरोधी है। जिस प्रकार बालक किसी किशोर या प्रौढ़ व्यक्ति के विरोध में नहीं हो सकता, उसी प्रकार विभिन्न विचारधाराएँ तथा धार्मिक विश्वास बाधक विभेदों के कारण नहीं बन सकते; क्योंकि उनका उद्देश्य अपनी रचनात्मक गतिविधियों के माध्यम से परस्पर सहयोग द्वारा वृद्धि की ओर अग्रसर एक अवयवी का रूप ले कर मानव-जाति के अस्तित्व तथा जीवन के लिए आधार-भूत सहायता तथा आश्रय प्रदान करना है।

३१ मार्च, १९७०

—स्वामी कृष्णानन्द

विषय-प्रवेश

भारत की धार्मिक और दार्शनिक विचारधाराएँ मानव की उच्च आकांक्षाओं की बहुमुख प्रस्तुति हैं। वेद-संहिताओं में सृष्टि में प्रकटित सार्वभौम सत्ता से जीवात्मा द्वारा की गयी प्रार्थनाओं तथा अनेक रूप में होने वाले एक ही परम तत्त्व के दर्शन का उल्लेख है। उपनिषदों में सृष्टि के अनेक रूपों द्वारा उस परम 'एक' की अथाह गहराई में डुबकी लगाने का प्रयत्न किया गया है। आधुनिक इतिहासकारों के मतानुसार संहिताओं से ले कर उपनिषदों तक विचारों का एक विकास-क्रम परिलक्षित होता है। परन्तु पारम्परिक विचार के अनुसार संहिताओं तथा उपनिषदों की विचारधाराओं में इस प्रकार का विभाजन करना उचित नहीं है। वस्तुतः इसमें परम सत्ता के दर्शन के दो प्रकार पाये जाते हैं। पहले प्रकार में इसके सृष्टि-पक्ष पर तथा दूसरे में इसके सद्रूप पर बल दिया गया है। यद्यपि इस परम सत्ता के तात्त्विक स्वभाव को एक लोकातीत तत्त्व के रूप में देखा जाता है, परन्तु इस (परम सत्ता) से बाहर स्थित इसके सृष्ट्ययात्मक पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि सृष्टि भी इसके अन्तर्गत है। इस दृष्टि से यह प्राचीन पारम्परिक

[बारह]

[तेरह]

दृष्टिकोण उचित ही है कि संहिता-ग्रन्थों तथा उपनिषदों में उनके निकृष्ट या उत्कृष्ट होने की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। ये वस्तुतः परम यथार्थता के दोनों ओर के दो चित्र हैं।

वेदों की व्याख्या करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वे शास्त्रीय ज्ञान की एक ही, समग्र इकाई हैं। उपनिषद् इस ज्ञान की पूर्णता हैं। यह विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिकोण कि महत्त्व की दृष्टि से उपनिषद् संहिताओं से श्रेष्ठ हैं, ठीक नहीं है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि उपनिषद् की विषय-सामग्री संहिता-ग्रन्थों की विषय-सामग्री की अपेक्षा अधिक सुधरी हुई है। कारण, कि संहिता-ग्रन्थों में ब्रह्माण्ड के अङ्गों तथा उसकी संरचना के सन्दर्भ में ही सृष्टि तथा सृष्टिकर्ता के वर्णन को महत्त्व दिया गया है तथा वे ईश्वर तथा मानव के मध्य श्रद्धायुक्त विस्मय की एक दूरी बनाये रखते हैं। दूसरी ओर, उपनिषद् मानव के अस्तित्व को ईश्वर और जीवात्मा के अभेद के प्रातिभ-ज्ञान से अनुप्राणित करते हैं। वे सृष्टि में पाये जाने वाले ईश्वर के ब्रह्माण्ड-वैभव की चेतना भी मानव में उत्पन्न करते हैं। इन ग्रन्थों में ईश्वर, संसार तथा आत्मा के बीच के विभेद का समाधान अद्वैत परम तत्त्व की धारणा से किया गया है।

भारतीय चिन्तन के इतिहास में महाकाव्यों तथा पुराणों के महत्त्व पर बल दिया जाना आवश्यक तथा अर्थपूर्ण है। प्राचीन काल के मनीषी इस बात को समझते थे कि मानव-स्वभाव के विभिन्न पक्षों पर पूरा-पूरा प्रभाव डालने की दृष्टि से आवश्यकता अनुसार उपदेश देने की विधि अलग-अलग होनी चाहिए। हम कह चुके हैं कि सृष्टि तथा परम सत्ता दो भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं

हैं। वे एक ही बात को दो प्रकार से देखने के दो तरीके हैं। मानव-मन में जहाँ एक ओर तर्कणापरक यौक्तिक क्षमताएँ हैं वहाँ उसमें सहज-बोध के तथा भावात्मक तत्त्व भी हैं। इन तत्त्वों के कारण कुछ ऐसे सत्यों की अनुभूति होती रहती है जो सदैव विद्यमान रह कर सक्रिय बने रहते हैं तथा जिन्हें तर्कों से भलीभाँति नहीं समझा जा सकता।

महाकाव्य और पुराण मानव-स्वभाव के उस पक्ष की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं जो इसके तर्क तथा अन्वेषण-प्रधान पक्षों से बिल्कुल भिन्न है। यह मात्र मानव की अहंमन्यता है जिसके कारण वह कहता-फिरता है कि अपने आधुनिक अर्थों में केवल विज्ञानसम्मत शोध तथा अभिकथन ही वास्तविक हैं तथा प्रयोगों और प्रेक्षणों की कसौटियों पर जो तथ्य खरे न उतरें, वे सत्य नहीं हैं। वह शायद भूल जाता है कि तर्क ही सब-कुछ नहीं है तथा ज्ञान के क्षेत्र में विज्ञान ही अन्तिम सीमारेखा नहीं है। जब विज्ञान कहता है कि दुःख के आँसुओं में केवल कुछ रासायनिक पदार्थ ही होते हैं तथा चित्र का सौन्दर्य रङ्गों के विभिन्न संयोजनों के प्रभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तब हृदय इसके विरोध में चीत्कार कर उठता है।

इसी प्रकार धर्म मानव की सनक का आविष्कार नहीं है। न ही यह मानव-भय का परिणाम या कोई सामाजिक अनिवार्यता है। यह तार्किकों या वैज्ञानिकों की समझ से परे मानव की चेतन आकांक्षा की उमड़ती हुई लहर है। मानव-स्वभाव वैज्ञानिक तथ्यों का सम्मिश्रण नहीं है। न ही यह भौतिक नियमों या रासायनिक तत्त्वों का समूह है। इसमें उन सार-गर्भित अर्थपूर्ण अँचाइयों का प्रकटीकरण हुआ है जो गणित,

भौतिक विज्ञान, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान के क्षेत्रों के समस्त द्रष्टव्य मूल्यों से भी ऊँची हैं। महाकाव्यों और पुराणों का धार्मिक भाव तार्किक दर्शन के धिसे-पिटे तथ्यों से भिन्न है। संसार की क्षणिक संरचना में भी पुराणों तथा महाकाव्यों के पात्रों ने एक शाश्वत अर्थ ढूँढ निकाला है। उदाहरणतया अवतार की शक्ति तथा उसके अवतरण के उद्देश्य ब्रह्माण्ड की ऐतिहासिक प्रक्रिया में एक ऐसे सत्य का उद्घाटन करते हैं जो इतिहास से परे है। जो भी वस्तु मानवीय है—चाहे वह इतिहास हो या विज्ञान—उसमें गणित तथा तर्क का पुट अवश्य होता है। परन्तु शाश्वत धर्म वह है जो सांसारिक तत्त्वों में भी एक सक्रिय दिव्य सत्ता की उपस्थिति का अनुभव कराता है।

पुराणों में वर्णित पात्र तथा घटनाएँ मनगढ़न्त सार-रहित कहानी-कथाएँ नहीं हैं; क्योंकि यह विश्व मानवीय अनुभूतिक्षम ज्ञान के माध्यम से अवलोकित किया गया परम तत्त्व ही है। पुराणों द्वारा प्रस्तुत दिव्य पूर्णता से युक्त पात्रों में मानवीय दुर्बलता भी पायी जाती है। इसका कारण यह है कि ये ग्रन्थ सांसारिक और शाश्वत के दो बिन्दुओं को आस-पास ला कर उनके बीच की दूरी मिटाना चाहते थे। ब्रह्माण्ड-इतिहास के ये वर्णन (पुराण-महाकाव्य) भूत, वर्तमान तथा भविष्य के पारम्परिक अर्थों के स्थान पर उनके नवीन अर्थों का बोध कराते हैं। उनमें मात्र बोध के मानवीय दृष्टिकोण को ढूँढने का प्रयत्न करना निरर्थक है। यहीं हमें पता चल पाता है कि धर्म न तो सामाजिक आचरण है और न कोई मानवीय आविष्कार यह एक कालातीत सत्ता की शाश्वत क्रिया है।

भगवद्गीता महाभारत का एक भाग है। इस प्रकार, महा-

काव्यों के सन्दर्भ में ही इसकी चर्चा की जाती है। इसी कारण इसे 'श्रुतियों' (वेद-उपनिषद्) से भिन्न 'स्मृति' कहा जाता है तथापि धार्मिक तथा दार्शनिक इतिहास में गीता की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है। उपनिषद् एक विस्तृत अरण्य के समान है जिनके क्षेत्र के अन्तर्गत वह सब-कुछ है जो सत् है। दूसरी ओर, भगवद्गीता एक उपवन है जिसमें छाँट-छाँट कर पौधे लगाये गये हैं। मानव-मनोविज्ञान की आवश्यकताओं के अनुरूप ही उन पौधों की देखभाल की जाती है। यह एक साथ ही तर्कणापरक, साङ्कल्पिक, भावात्मक तथा कर्मण्यता से भारित है।

उपनिषदों में परम सत्ता मानो अपनी ही महिमा का गुण-गान करती है और अपने ही ध्यान में मग्न रहती है, परन्तु भगवद्गीता में यह सत्ता मानव से एक ऐसी भाषा में वार्त्तालाप करती है जो उसके मन के लिए बोधगम्य है तथा जिसके लिए सुख-दुःख, पुरस्कार-दण्ड, विकास-क्रमविकास, बन्धन-मुक्ति अर्थ-गर्भित स्थितियाँ हैं। भगवद्गीता एक ऐसा विश्वजनीन सिद्धान्त है जो मानव और ईश्वर के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। यह परम तत्त्व तथा संसार के बीच के मूर्त्त सम्बन्धों पर प्रकाश डालती है तथा इस बात का आश्वासन देती है कि संसीम मानव से असीम ईश्वर की ओर जाने के लिए एक मार्ग है।

फिर भी, उत्तरकालीन सभी विचारधाराओं के मूल तत्त्व उपनिषदों में ढूँढे जा सकते हैं। यद्यपि उपनिषद् मुख्य रूप से परानुभविक परम सत्ता से ही सम्बन्धित हैं (परम सत्ता का सृष्टि-व्यवस्था से चाहे जो भी सम्बन्ध हो), परन्तु उनमें यत्र-तत्र ऐसे गम्भीर विचार यहूच्छया बिखरे पड़े हैं जो नीतिशास्त्र और

मनोविज्ञान के सिद्धान्तों तथा भगवत्प्राप्ति के मार्ग का निचोड़ प्रस्तुत करते हैं। भगवद्गीता में उपनिषदों के कुछ सारगर्भित कथनों को महत्त्व देते हुए उन्हें विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ मुण्डक उपनिषद् में एक ही मन्त्र में वैश्व विराट् के स्वभाव का निरूपण किया गया है जो संहिताओं के पुरुषसूक्त से प्रेरित कहा जा सकता है। ईश, कठ, श्वेताश्वतर उपनिषदों में भगवद्गीता (जिसमें कर्मभूमि पर ईश्वर के अवतरित होने का भाव व्यक्त हुआ है) के कुछ महत्त्वपूर्ण विचार-बिन्दु पाये जाते हैं।

योगवासिष्ठ में भारत की दार्शनिक विचारधारा का उत्कर्ष देखने को मिलता है। यह अपने ढङ्ग का एक अद्वितीय गौरव-ग्रन्थ है। महाकाव्यों की शैली में, विस्तृत वर्णनों द्वारा इस ग्रन्थ में उपनिषदों के मूलभूत सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है तथा दार्शनिक तत्त्वों के साथ मनोविज्ञान के उदात्त तत्त्वों को मिलाया गया है। इन्हीं मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की सहायता से इस ग्रन्थ में विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सृष्टि, क्रमविकास तथा अन्त-र्वलय के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में असीम चैतन्य सत्ता (जो भोक्ता तथा भोग्य दोनों रूपों में प्रकट होती है) की शब्दावली में प्रत्येक वस्तु की निर्णायक विवेचना की गयी है। इसके मुख्य वर्ण्य-विषय हैं—अनित्य दृश्य-प्रपञ्चों वाले जगत् में सुख-प्राप्ति के उद्देश्य से किये गये प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मिलने वाले दुःख, प्रत्येक व्यक्ति की सामान्य व्याधि का निदान करने के लिए आवश्यक ज्ञान तथा वास्तविक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए आवश्यक नैतिक पूर्वपेक्षाएँ।

इस ग्रन्थ की अनोखी विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण उस चैतन्य की भाषा में किया गया है जो प्रत्येक वस्तु की चरम सत्ता है। स्वास्थ्य-रोग, सुख-दुःख, सफलता-असफलता आदि की विवेचना चेतना के सुसमञ्जन अथवा उसके कुसमञ्जन के सन्दर्भ में की जा सकती है। अन्ततः, जीवन-मृत्यु भी इसी रहस्यमय कारण से घटित होते हैं यद्यपि इस कारण को प्रत्यक्ष रूप से नहीं देखा जा सकता; क्योंकि यह स्वयं द्रष्टा चैतन्य सत्ता में ही अन्तर्गस्त है। योगवासिष्ठ के ही समान आध्यात्मिक आदर्शवाद की विवेचना करने वाला एक अन्य ग्रन्थ 'त्रिपुररहस्य' (ज्ञान-काण्ड) है जिसके अनुसार यह (आदर्शवाद) प्रत्येक वस्तु का आदि और अन्त है।

धर्म के रूप में भारतीय दर्शन का आविर्भाव जिस रूप में हुआ है, उसका एक रोचक अङ्ग है सर्वेश्वरवाद (Pantheism)। सर्वेश्वरवाद की व्यावहारिक उपयोगिता भारतीयों के दैनिक जीवन में बहुत अधिक है। भारतीयों के मानस को देवताओं ने इस सीमा तक प्रभावित कर लिया है कि सम्पूर्ण भारत में मानव-जीवन का ईश्वरपरक (Theological) मूल्याङ्कन करना कोई असाधारण बात नहीं मानी जाती। यहाँ किसी भी प्रकार की समस्या का समाधान किसी-न-किसी देवता या अधिष्ठातृ देव पर निर्भर रहता है। यह विचारधारा उन (उपनिषद्) ग्रन्थों से विरासत में मिली है जिनमें ब्रह्माण्ड को अधिभूत, अध्यात्म तथा अधिदैव तत्त्वों से सञ्चित माना गया है। सृष्टि की किसी भी अवस्था में ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जो इस त्रयात्मक सम्बन्ध की सीमा से परे हो। उद्गामी क्रमविकास के नवीन दर्शन के क्रमविकारा के प्रत्येक स्तर पर,

विशेष रूप से संमुअल एलेक्जेंडर की पुस्तक 'स्पेस, टाइम एण्ड डीटी' में, देवताओं से सम्बन्धित यह भारतीय धारणा एक निरपवाद सहगामी विचार के रूप में पायी जाती है। एलेक्जेंडर ने अपनी पुस्तक में देव-तत्त्व को ऊर्ध्वगामी विकास करने के प्रयास में क्रमविकास की प्रक्रिया का अपरिहार्य अङ्ग माना है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अनेक शताब्दियों पूर्व ही उपनिषदों के रचनाकारों ने अपनी अन्तःप्रज्ञा से देवत्व के इस नवीन सिद्धान्त का पूर्वानुमान ही नहीं कर लिया था, वरन् उसमें उसके उद्देश्य और महत्त्व का भी समावेश कर लिया था। आज भी भारतीयों के मानस से इस विश्वास को हटा पाना असम्भव है कि अधिष्ठातृ देवतागण जीवात्मा तथा भौतिक तत्त्वों के सम्बन्धों को विनियमित करते हैं। इसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को गीता संसार तथा मानव की क्रियाओं-प्रक्रियाओं का निर्णायक तत्त्व मानती है। गीता का यह सिद्धान्त ही रूपान्तरित हो कर भारत का महान् धर्म-विज्ञान बना है जिसके अनुसार ब्रह्माण्ड के संरक्षक अनेक देवगण होते हैं। मानव अपनी महती नियति की ओर ऊर्ध्वगामी यात्रा कर सके, इस दृष्टि से इन देवताओं की उपासना का विधि-विधान भी धर्म-विज्ञान में निश्चित कर दिया गया है। ब्रह्म-विज्ञान धर्म का आवश्यक अङ्ग है। दूसरे शब्दों में यह दर्शन का व्यावहारिक पक्ष है।

आचरण के नियम धार्मिक जीवन का एक अङ्ग हैं। स्मृति-ग्रन्थों में सामाजिक प्राणी तथा व्यक्ति के (दोनों) रूपों में मानव के व्यवहार के नियमों का निर्धारण किया गया है। वेद का कथन है कि सत्य (सत् के रूप में सत्य) तथा ऋत (नियम के रूप में सत्य) परम सत्ता तथा उसके प्रकटीकरण के मूल सिद्धान्त हैं।

यही कथन धार्मिक जीवन या धर्म-विधान की पृष्ठभूमि है । धर्मपरायणता के विविध रूपों (जो उपनिषदों में प्रस्तुत सृष्टि के विवरण तथा सत्य और ऋत के सिद्धान्तों में अन्तर्निहित होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त नहीं हो पाये) को स्मृति-ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है । इन ग्रन्थों का मुख्य वर्ण्य-विषय वर्णाश्रम-धर्म है जिसका उद्देश्य समाज में पारस्परिक सहयोग की भावना को सुदृढ़ आधार प्रदान करना था । स्मृति-ग्रन्थों में न केवल व्यक्ति, पारिवारिक सदस्य तथा सामाजिक प्राणी के रूपों में मानव की नैतिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है वरन् प्रशासन, राजनीति तथा राजनीतिमत्ता के नियमों, वैदिक सिद्धान्तों तथा शासन-कला का सविस्तर वर्णन भी किया गया है । मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति, महाभारत का शान्ति-पर्व तथा कौटिल्य का अर्थशास्त्र उपर्युक्त विषयों से सम्बन्धित तथ्यों के मूल स्रोत हैं । इन संहिताओं में सामाजिक, राजनैतिक तथा कानूनी प्रणालियों की जो विवेचना की गयी है, अन्ततोगत्वा उसका आध्यात्मिक भाव ही स्पष्ट हो कर उभरता है । कारण, उनमें मानव-जीवन का पुरुषार्थ-चतुष्टय के सन्दर्भ में विश्लेषण किया गया है तथा इस जीवन का चरमोत्कर्ष माना गया है—मोक्ष । ये पुरुषार्थ हैं—धर्म (उचित आचरण), अर्थ (न्यायसङ्गत अर्थोपार्जन), काम (सामान्य इच्छाओं की पूर्ति) तथा मोक्ष (परमानन्द) । इस प्रकार व्यक्ति और समाज, व्यक्ति तथा राज्य और ईश्वर तथा सृष्टि के बीच किसी प्रकार का सङ्घर्ष नहीं है ।



अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ सङ्ख्या
प्रकाशकीय वक्तव्य	... पाँच
आमुख	... सात
विषय-प्रवेश	... बारह

प्रथम अध्याय

वेद

१. वेद और उसका वर्गीकरण	... ३
२. वेद की विषय-वस्तु	... ५
३. नियम और यज्ञ की वैदिक सङ्कल्पना	... ६
४. कर्म और पुनर्जन्म	... ११
५. वेद : विकास के मूल स्रोत	... १२

द्वितीय अध्याय

उपनिषद्

१. संक्रान्ति-काल	... १४
२. सत्य की खोज	... १५

[इक्कीस]

[बाईस]

- | | |
|--|-----------|
| ३. उपनिषदों का तत्त्व-ज्ञान : | ... १६-३७ |
| <p>सृष्टि का सिद्धान्त, तत्त्वमीमांसा, व्यक्तिगत
ईश्वर, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, युगान्त-
विज्ञान, योगाभ्यास, मुक्ति ।</p> | |
| ४. युग-चेतना | ... ३८ |

तृतीय अध्याय

इतिहास एवं पुराण

- | | |
|--|--------|
| १. इतिहास एवं पुराणों का उदय | ... ४० |
| २. शिक्षण-विधियों के रूप में इतिहास तथा
प्रतीकशास्त्र | ... ४५ |
| ३. इतिहास और तत्त्वमीमांसा | ... ५३ |
| ४. पुराण | ... ६० |

चतुर्थ अध्याय

भगवद्गीता

- | | |
|-------------------------|-----------|
| १. सन्दर्भ | ... ६३ |
| २. आत्मा की अमरता | ... ६५ |
| ३. सर्वशक्तिमान् ईश्वर | ... ६५ |
| ४. ईश्वर का अवतार | ... ६६ |
| ५. सम्यक् कर्म का रहस्य | ... ७०-८४ |

विश्वजनीन धर्म, योग, मुक्तात्मा, मृत्यु
और उसके बाद, भगवद्गीता का
मुख्य आधार ।

पञ्चम अध्याय

इतिहास एवं पुराणों के सामान्य उपदेश

१. अनुगीता	...	८७
२. आत्मनियन्त्रण का उपाय	...	६०
३. आधारभूत नीतिशास्त्र	...	६६
४. पुराणों की मुख्य विषय-सामग्री	...	६६
५. दार्शनिक विचारधारा	...	१०१

षष्ठ अध्याय

योगवासिष्ठ

१. उपोद्घात	...	१०७
२. संसार का आदर्श स्वरूप	...	१०८
३. मृत्यु के बाद का जीवन	...	११०
४. परम तत्त्व	...	११२
५. मोक्ष का साधन	...	११३
६. मोक्ष और ज्ञान के विभिन्न सोपान	...	११४

सप्तम अध्याय

ईश्वरमीमांसा (THEOLOGY)

१. व्यक्तिगत ईश्वर की आवश्यकता	...	११६
२. नारायण तथा विष्णु	...	११८
३. शिव	...	१३५
४. गणेश	...	१३७
५. देवी	...	१३८
६. ब्रह्मा	...	१४१
७. स्कन्द	...	१४३

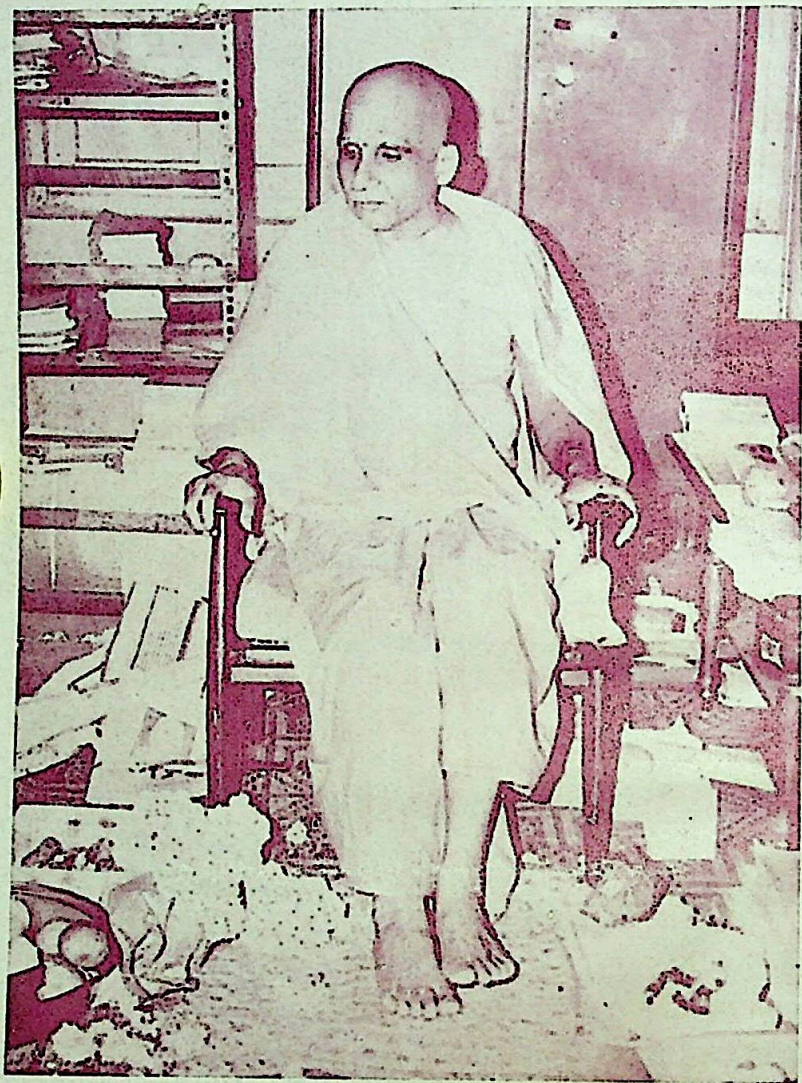
[चौबीस]

८. सूर्य	...	१४५
९. हनुमान्	...	१४८
१०. गौण देवता :		१५१-१४४
शास्ता, लोकपाल, काम		
११. अन्य देवता, अर्धदेव तथा उपासना- श्रद्धा-विस्मय के पात्र	...	१५५

अष्टम अध्याय

स्मृतिग्रन्थ एवं धर्म-संहिता

१. सामान्य विशेषताएँ	...	१६२
२. कर्मकाण्ड का अर्थ :		१६६-१७८
कर्मकाण्ड का उद्देश्य तथा विधि, पूजा, प्रार्थना, संस्कार		
३. जीवन की अवस्थाओं से सम्बन्धित नियम :		१८२-१८४
पुरुषार्थ, आश्रम		
४. कर्म, बन्धन तथा मोक्ष	...	१६१
५. टिप्पणियाँ :		१६८-२०१
वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता, इतिहास, पुराण, योगवासिष्ठ, स्मृति-ग्रन्थ ।		
६. वेद-संहिता का पुरुषसूक्त	...	२०२



श्री स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज

भारतीय धर्म
तथा
दर्शन की विचारधारा
का
संक्षिप्त इतिहास

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र की किम्वदन्तियाँ

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र की किम्वदन्तियाँ

प्रथम अध्याय

वेद

वेद और उनका वर्गीकरण

भारतीय दर्शन और धर्म के इतिहासकारों के लिए ऋग्वेद से अध्ययन प्रारम्भ करना एक रूढ़ परम्परा हो गयी है। ऋग्वेद प्राचीन भारतीय संस्कृति का सर्वप्रथम धर्मग्रन्थ माना जाता है; अतः वेदों का अध्ययन भारतीय दर्शन और धर्म वाङ्मय की उत्कृष्ट शिक्षा का प्रथम चरण माना जाता है। ऋग्वेद छान्दस मन्त्रों का ग्रन्थ है और मण्डल नामक दश भागों में विभक्त है। उसका एक अन्य विभाजन आठ अनुभागों में हुआ है जिसे 'अष्टक' कहा जाता है। ऋग्वेद की ऋचाएँ मन्त्र कहलाती हैं। ये शक्ति-संवर्धित पद्य हैं जिनमें विलक्षण लय, धाराप्रवाह एवं उदात्त प्रभावोत्पादकता है। आत्मिक प्रेरणा से अनुप्राणित ये मन्त्र चार चरणों में निबद्ध छन्द् हैं। यह काव्य ऐसा विशिष्ट अर्थगर्भित एवं शक्ति-सम्पन्न है कि शुद्ध और विधिवत् उच्चारण द्वारा उसकी शक्ति किसी भी लौकिक अथवा पारलौकिक लक्ष्य के अनुकूल अथवा प्रतिकूल निर्देशित की

जा सकती है। मन्त्रों में मन्त्रों का मनन करने वाले का त्राण करने की क्षमता है। यही कारण है कि मन्त्र को 'मननात् त्रायते' कहा गया है। वेद-मन्त्रों का उद्देश्य, जिन इष्ट देवों को वे सम्बोधित किये गये हैं, उनका आह्वान करना एवं किसी लक्ष्य-पूर्ति हेतु उन देवों की शक्ति को आहूत करना है। ये मन्त्र दिव्य लोकों के निवासियों और उन देवताओं में जो अस्तित्व की विविध भूमियों के विभिन्न कार्यों में अन्तर्भूत हो कर उनकी देख-भाल करते हैं तथा कार्यों को सम्पन्न करते हैं—सम्बन्ध-स्थापन के साधन हैं। ऐसे भी मन्त्र हैं जो विराट् अथवा ब्रह्मा की महिमा के सम्बन्ध में कहे गये हैं।

वेद ऋक्, यजु, साम और अथर्व नामक चार समूहों में बाँटे गये हैं। ऋग्वेद प्रमुखतः स्वर्ग के देवताओं की स्तुति-स्वस्ति से सम्बन्धित दिव्य मन्त्रों का प्रमुख ग्रन्थ है। यजुर्वेद का विभाजन कृष्ण और शुक्ल दो शुद्ध पाठान्तरों में किया गया है। यजुर्वेद के गद्य और पद्य में प्रधानतः यज्ञ के सूत्र हैं जो यज्ञ के समय गा कर पढ़े जाते हैं। सामवेद के अधिकांश पद्य ऋग्वेद से लिये गये हैं। उन्हें यज्ञ के समय गाने के लिए सङ्गीत-बद्ध किया गया है। अथर्ववेद जादू-टोना और झाड़ू-फूँक के पद्यों से पूर्ण है और आध्यात्मिक उद्देश्य की अपेक्षा उसके विभिन्न निम्नतर प्रयोजन हैं।

प्रत्येक वेद के चार भाग हैं जिन्हें 'संहिता', 'ब्राह्मण', 'आरण्यक' तथा 'उपनिषद्' कहा जाता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, वेदों के 'संहिता'-भाग में देवताओं को सम्बोधित स्तुति के मन्त्र हैं। 'ब्राह्मण' वेदों का कर्मकाण्ड-भाग है जिसमें यज्ञ की विधियों की सविस्तार मीमांसा की गयी है। इन यज्ञों

में सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा व्ययसाध्य राजसूय, अश्वमेध, अग्निष्टोम और सोमयाग हैं जो लौकिक प्रभुत्व अथवा अलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं। बहुत से गौण यज्ञ भी हैं जिनके अनुष्ठान की विधि का निर्देश ब्राह्मणों में दिया हुआ है। संहिताओं के मन्त्रों का उच्चारण मुख्यतः यज्ञ के अवसरों पर होता है; परन्तु विशुद्ध आध्यात्मिक क्रियाओं के रूप में ये प्रार्थना और ध्यान में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। उपनिषदों के दार्शनिक रहस्यवाद की विकास-परम्परा में इस पक्ष पर अधिक बल दिया गया है, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे।

वेद की विषय-वस्तु

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वेद-मन्त्र उन देवों की स्तुति हैं जो मानव को हर प्रकार का आशीर्वाद देने की क्षमता से पूर्ण माने गये हैं; परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि संहिताओं के कवियों को परम सत्ता के अस्तित्व का ज्ञान नहीं था या जैसी पश्चिम के अनेक भाषा-वेत्ताओं के सोचने की प्रवृत्ति है कि वेदों के देवता प्रकृति-प्रक्रिया के मात्र बचकाने मूर्त आदर्श हैं। कतिपय इतिहासकारों का यह अभिमत कि वेद-मन्त्र अपरिपक्व मस्तिष्क वाले चरवाहों (आभीरों) की मूर्खतापूर्ण बकवास अथवा आदिम काल के मानव-मन के ग्राम्य गीत हैं, नितान्त त्रुटिपूर्ण है। ऐतिहासिक मूल्याङ्कन को, चाहे विचारों का हो अथवा समाज का, प्रक्रिया के तार्किक आधार विस्मृत नहीं करने चाहिए। अनेक रूपों और आकारों को एक (परम सत्) की अभिव्यक्तियों के रूप में तथा एक को अनेक में प्रकटित देखने की प्रवृत्ति का ऋग्वेद के मन्त्रों में स्पष्टतः पता लगाया जा सकता है। यह सत्य

है कि वेदों के मुख्य देवता इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य (आदित्य, सवित्र), सोम, यम, वायु, अश्विनीकुमार द्वय, बृहस्पति और ब्रह्माणस्पति हैं तथा दैवी शक्तियों का आह्वान करने के लिए मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण से अलौकिक परिणाम प्रस्तुत हो सकते हैं, यहाँ तक कि वे बिलकुल साकार हो सकती हैं; परन्तु ऋग्वेद में सार्वभौमिक दिव्य सत्ताओं और विश्व के परम देवों के रूप में विष्णु, रुद्र तथा प्रजापति अर्थात् हिरण्यगर्भ सम्बन्धी धारणाओं के बीज-स्रोत भी सुगमता से ढूँढे जा सकते हैं। परम सत् की अन्य भव्य सङ्कल्पना पर—जिसका निरूपण पुरुषसूक्त तथा नासदीय-सूक्त में हुआ है—पृथक् रूप से विचार करना होगा।

‘पुरुषसूक्त’ में विश्व की आत्मिक एकता का अत्यन्त भव्य वर्णन मिलता है। सर्वान्तर्व्यापी एवं सर्वातिशायी रूप में सत् की प्रकृति का सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रस्तुतिकरण कदाचित् यहीं हुआ है। सबको घेरे हुए उस पुरुष (परमात्मा) के अनन्त शिर, अनन्त नेत्र तथा अनन्त अवयव सर्वत्र हैं। वह सृष्टि को सही ओर से आवृत्त किये हुए उसमें परिव्याप्त है और उससे बाहर भी अपने महामहिम अविनाशी रूप में अवस्थित है। वह सब-कुछ जो भूतकाल में बन चुका था, वर्त्तमानकाल में बन रहा है और भविष्यकाल में बनने वाला है, इस पुरुष का ही रूप है। निखिल ब्रह्माण्ड उसका एक छोटा-सा अंश है। उसकी अनन्त महिमा सर्वों परि है। ऐसे हैं तेजस्वी पुरुष देवाधिदेव ! उन्हीं से सृष्टि-रचना-विषयक आदि-सङ्कल्प उद्भूत होता है जो बाद में ब्रह्मा, हिरण्य-गर्भ या प्रजापति के नाम से जाना जाता है और जिसके द्वारा अन्त-रिक्ष में इस विशाल विश्व ने आकार लिया। पुरुषसूक्त समाज के सङ्घटकों की तात्त्विक अविभेद्यता की निश्चित रूप से घोषणा

करता है। वैदिक ऋषि मानव और सृष्टि से उतना ही प्रेम करते थे जितना कि भगवान् से।

सर्वप्रथम ऋग्वेद के नासदीयसूक्त ने ऋषियों द्वारा सत्ता की थाह लेने की सूचना दी। सापेक्ष द्वारा परम का दिव्य दर्शन इस विश्रुत मन्त्र की प्रकट विषय-वस्तु है। यद्यपि निराकार ब्रह्म समस्त सत्ताओं में सर्वोपरि है और अस्तित्व-सम्बन्धी समस्त कल्पनाओं से अतीत है, तथापि व्यक्ति द्वारा जब इसका चिन्तन किया जाता है तब यह कुछ ऐसा रहस्यमय हो जाता है कि इसके सम्बन्ध में न निश्चित रूप में कुछ कहा जा सकता है और न इसकी कोई परिभाषा ही दी जा सकती है। 'सत्ता' को यहाँ एक ऐसे रूप में चित्रित किया गया है जिसे न 'सत्' से नामोद्दिष्ट किया जा सकता है, न 'असत्' से; क्योंकि आकाश और पृथिवी के प्रकटीकरण से पूर्व उसका प्रत्यक्ष बोध करने वाला कोई नहीं था। अपने निकट आने के समस्त प्रयत्नों को चुनौती देती हुई, अपनी ही सत्ता में डूबी केवल एक अनिर्वचनीय निश्चल नीरवता थी। किसी प्रकार का वैशिष्ट्य (भेद) न होने के कारण मृत्यु अथवा अमरत्व भी नहीं था। वस्तुतः दिवस और रात्रि भी नहीं थे। अपनी गरिमा और महिमा में स्पन्दित केवल एक सत्ता थी; परन्तु जो उसे देखना चाहते थे, उनको अन्धकार दिखायी देता था। वह अद्वितीय थी, मात्र वही थी। उसी से यह सृष्टि हुई। परन्तु यह सब कैसे घटित हुआ, कोई नहीं जानता; क्योंकि सभी सृष्टि के पश्चात् आये। यह नासदीयसूक्त का केन्द्र-बिन्दु है और इसका विकास उपनिषदों तथा धर्म के उत्तरकालीन शास्त्रविहित सुस्थित रूप की विविध दार्शनिक तथा धार्मिक विचारधाराओं में हुआ। एक प्रसिद्ध मन्त्र

में ऋग्वेद उद्घोषित करता है : “सत् एक ही है जिसका वर्णन मनीषी इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, वायु आदि अनेक नामों से करते हैं।”* और इस प्रकार वह समस्त देवताओं का मात्र एक सत्ता में एकीकरण कर देता है।

ऋग्वेद में अन्य सूक्त भी हैं जो अन्य विविध दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। अस्यवामस्यसूक्त के अर्थ का रूप बड़ा जटिल है। वह सृष्टि और सृष्टि-रचना के आकृति के कतिपय मुख्य तथ्यों की ओर सङ्केत करता है। हिरण्यगर्भसूक्त हिरण्यगर्भ या प्रजापति (जो बाद में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा मान लिये गये) से विश्व की उत्पत्ति का गान करता है। अघमर्षणसूक्त वर्णन करता है कि ब्रह्माण्ड में समत्व होता है और उससे सृष्टि का चक्र इस प्रकार चल पड़ता है कि प्रत्येक चक्र में सृष्टि के प्रमुख रूप अपनी पुनरावृत्ति करते हैं। वामदेवसूक्त वामदेव की माँ के गर्भ से ही आत्मिक संसिद्धि-प्राप्ति का एवं जीवत्व के पाश से उन्मुक्त होने के हर्षोद्गार का उल्लेख करता है। ऋग्वेद का समापन-अंश व्यक्तियों के बीच मनसा, वाचा, कर्मणा एकता-स्थापन का प्रेरणादायक आह्वान है, जो आजकी मानवता के लिए बहुत बड़ा सार्थक सन्देश है।

यजुर्वेद के एक अध्याय, रुद्र अध्याय अथवा शत रुद्री में रुद्र

*इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो

दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं

यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋग्वेद : १-१६४-४६)

शिव के रूप में परम सत्ता का रोमहर्षक आह्वान है। इसमें परम सत्ता को समस्त गोचर एवं बोधगम्य रूपों में सम्बोधित किया गया है। छोटा और बड़ा, स्थूल और सूक्ष्म, निम्न तथा उच्च, दूर तथा अनतिदूर, दृश्य तथा अदृश्य, अस्तित्ववान् तथा अनस्तित्ववान्—जो-कुछ है, सब-कुछ सर्वशक्तिमान् भगवान् है। यहाँ शिव को, भगवान् की महत्कृपा के अभिलाषी भक्तों को वर देने वाली सर्वव्यापी सत्ता के रूप में आह्वान करने के सम्बोधन हैं। विश्व की एकता तथा सार्वजनिक कल्याण हेतु पवित्रीकरण की तथा आह्वानात्मक प्रक्रिया-स्वरूप पुरुषसूक्त और रुद्र अध्याय पूजा के अवसरों पर आज भी मन्दिरों में गाये जाते हैं। वैदिक सर्वशक्तिमान् भगवान् में दिव्य सौन्दर्य और तेज (सुन्दरं), लोकमङ्गलकारिता और लोककल्याण के नियम (शिवं) तथा आध्यात्मिक सत्य एवं पूर्णत्व (सत्यं) सब एक साथ सन्निहित हैं।

वेदों में गायत्री-मन्त्र अनुपम है। यह उनका बीज-मन्त्र माना जाता है; और मनु के विचारानुसार सृष्टि के प्रारम्भ काल से ही 'भूः भुवः स्वः' की तीन व्याहृतियों के सङ्ग देवत्व के सार्वत्रिक प्राकट्य के लिए 'खुल जा सम सम' समझा जाता है।

नियम और यज्ञ की वैदिक सङ्कल्पना

ऋग्वेद के दो कूट शब्द हैं: 'सत्य' और 'ऋत' जो क्रमशः आध्यात्मिक नियम तथा अखिल विश्व में उस नियम की सक्रियता को प्रकट करते हैं। 'सत्य' निरपेक्ष ब्रह्म में बद्धमूल अखण्डता

(अभिन्नता) का सिद्धान्त है और 'ऋत' विश्व में क्रियाशील नियम और व्यवस्था के रूप में उसका प्रयोग और कार्य है। कभी-कभी 'ऋत' का सत्ता के आदि-तत्त्व के रूप में और 'सत्य' का उस सत्ता के प्रकटीकरण के रूप में निर्वचन किया जाता है। विश्व एक न्यायनिष्ठ एवं कठोर नियम पर निर्भर है। यह नियम विश्व-कल्याण के लिए प्रभु-आदेश है। इस नियम के पालन से जीवन की उच्चतर पूर्णता के स्वरूपों तक ले जाने वाली भौतिक एवं आत्मिक उन्नति एवं प्रगति होती है; परन्तु इसके उल्लङ्घन से जीव सत्ता के विभिन्न लोकों में अनुक्रमिक आवागमन द्वारा दण्डित होता है।

पुरुषसूक्त में हम देखते हैं कि यज्ञ की धारणा पूर्णत्व की उस सीमा तक ले जायी गयी है जहाँ भगवत्-भावना से समस्त विश्व ही यज्ञ कर्म माना गया है। भगवान् ही सृष्टिस्वरूप हो व्यक्तिगत यज्ञ के लिए क्षेत्र और संयोग बन जाते हैं। विश्व यज्ञ है और आत्मोत्कर्ष हेतु त्याग-भावना से सम्यक् रूप में निष्पन्न समस्त कार्य वैयक्तिकता तथा उससे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु-रूपी यज्ञ का आकार धारण कर लेते हैं। जब परम पुरुष का इस जगत् के आविर्भाव के रूप में विचार करते हैं अथवा सापेक्ष जगत् को उस परम पुरुष का अपने से पार्थक्य के रूप में देखते हैं तो परम-पुरुष स्वयं सर्वोत्कृष्ट यज्ञ बन जाता है। यज्ञ का मूल तत्त्व है दूसरों के लिए अस्तित्ववान् रहना, सामाजिक क्रियाओं के रूप में ही अस्तित्ववान् रहना नहीं, अपितु उस चेतना के अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में भी अस्तित्ववान् रहना जो निर्विशेष सत्ता को लक्ष्य बनाये हुए क्रमशः उच्चतर उपलब्धियों के अनुक्रम

में सन्निविष्ट हो जाती है। 'पुरुषसूक्त' में परमोत्कृष्ट यज्ञ की यही सङ्कल्पना है।

'पुरुषसूक्त' एवं रुद्र अध्याय में रूपायित इस भव्य विचार की दृष्टि से भगवान् की पूजा-उपासना कहीं भी, किसी समय की जा सकती है; क्योंकि भगवान् तो यहाँ भी ठीक हमारे समक्ष है ! विश्व की किसी भी वस्तु के माध्यम से उसकी पूजा हो सकती है। इस पूजा और उपासना में सर्वोच्च यज्ञ में भगवान् ही पूजा-सामग्री, पूजा, उपासक तथा उपास्य है। उसकी सत्ता और प्राकट्य दोनों का एक ही अर्थ है। उसकी सत्ता और क्रिया एक ही वस्तु है। अमरता तथा मृत्यु, सजीवता तथा निर्जीवता दोनों ही उसकी आकृतियाँ हैं। वह परम सत्ता यहाँ है, इस क्षण भी है। उसे इस सार्वभौम आत्मत्याग जैसे महान् कार्य द्वारा अनुभव किया जा सकता है।

वैदिक ऋषियों के लिए जीवन यज्ञ का आनन्द और अखिल प्रकृति में देवत्व का नित्य साक्षात्कार है।

कर्म और पुनर्जन्म

'सत्य' और 'ऋत' के सिद्धान्तों का आशय है—विश्व-प्रक्रिया के ध्येय और प्रयोजन के अनुरूप नियम-उपनियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करना। कोई भी कर्म जो ऋत और सत्य की विश्व-व्यवस्था के विरुद्ध और उससे असम्बद्ध रूप में खड़े होने वाले निजी व्यक्तित्व की भावना से आरम्भ होता है, वह स्पष्टतः

प्रतिशोधात्मक कार्य है। उस कर्म की स्वाभाविक प्रतिक्रिया-स्वरूप ऋत और सत्य का सिद्धान्त उस कर्म द्वारा अव्यवस्थित हुए वैश्व समत्व और सन्तुलन को ठीक करने का प्रयास करता है। कर्म के परिणाम को अन्ततोगत्वा कर्त्ता पर डालने का यह सिद्धान्त वह आध्यात्मिक, नैतिक एवं मानसिक नियामिका शक्ति है जिसे कर्म कहते हैं और जो ऐसे कर्म के कर्त्ता से जिन परिस्थितियों और परिवेश में कर्म हुआ है, उनसे भिन्न परिस्थितियों और परिवेश में पुनर्जन्म नामक अनुभवात्मक प्रक्रियाओं से होते हुए जाने की अपेक्षा करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म तथा पुनर्जन्म का नियम ब्रह्माण्ड के ऐक्य का वैज्ञानिक नियम है। वेद इस सिद्धान्त की क्रियाशीलता स्वीकार करते हैं और इस तथ्य को मान्यता देते हैं कि व्यक्ति का भावी जीवन उसकी वर्तमान जीवन-यापन-पद्धति पर निर्भर है। कर्म और संसार के इस विख्यात सिद्धान्त के आगामी विकास का अध्ययन करते समय इसके पुनरावलोकन का अवसर हमारे समक्ष पुनः आयेगा।

वेद : विकास के मूल स्रोत

भारतीय विचारधारा के परवर्ती विकास का उद्गम वेदों में खोजा जा सकता है। वेदों की साहसपूर्ण चिन्तन-प्रणाली तथा दार्शनिक उद्गानों उपनिषदों और वेदान्त-परम्परा में अपनी चरम सीमा को पहुँच गयी थीं। वेदों में पाये जाने वाले भागवती-चिन्तन से उत्पन्न भाव-समाधि की दशा के वर्णन ही योग-सम्प्रदाय के संविन्यास के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। यह योग-सम्प्रदाय

ही पतञ्जलि के योग-सूत्र के रूप में संहिताबद्ध किया गया। विश्व-रचना के सम्बन्ध में वेदों की दिव्य दृष्टि सांख्य सिद्धान्त के विकास में सहायक हुई। सांख्य ने ब्रह्माण्डविज्ञान और मनो-विज्ञान के सम्बन्ध में फैली धारणा को नियमित रूप दिया। वेदों की तर्कसङ्गत प्रणाली ने अन्वीक्षिकी तथा कुछ दर्शन-पद्धतियों के तर्कणापरक दृष्टिकोण के विकास को प्रेरणा दी। वेदों में आनुष्ठानिक एवं पुरोहितवादी आग्रह ने मीमांसा के विशुद्ध प्रामाण्यवादी सम्प्रदाय की नींव डाली। वैदिक ऋचाओं में प्रधानता प्राप्त करने वाली प्रार्थनाओं और ध्यान के रूपों ने वैष्णवों, शैवों और शाक्तों के भक्ति-सम्प्रदायों को प्रवर्तित किया। वेदों द्वारा प्रस्तुत किये गये ऋषियों, अरण्यवासी तपस्वियों और राजाओं के विवरणों ने सुपरिष्कृत इतिहास अथवा महाकाव्यों और पुराणों का सूत्रपात किया। वेद-कालीन सामाजिक रीति-रिवाज स्मृतियों और धर्म-शास्त्रों में सदाचार और नियम के व्यवस्थापन की आधारशिला बन गये। सभी सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक संस्थाएँ व्यक्ति की अपनी क्षमता और अभिरुचि के अनुसार आत्मिक विश्वजनीनता की उपलब्धि की ओर उसके क्रमिक विकास में सहायता देने के लिए ही थीं।

द्वितीय अध्याय

उपनिषद्

संक्रान्ति-काल

संहिता एवं ब्राह्मणों का मुख्य स्वर पवित्रता तथा विधि-विधानों का है। इनके मध्य में यत्र-तत्र धार्मिक भावना एवं चिन्तन के आनन्द का उभार आता है, तो कभी-कभी विश्व-व्यापक परम शक्ति—विराट्—के आध्यात्मिक दर्शन भी होते हैं।

वैदिक ऋषियों के विचारों के अन्तःप्रवाह में विश्व के पदार्थों में आध्यात्मिक दर्शन का अर्थ निहित था। 'समग्र विश्व परम पुरुष का यज्ञ है'—चिन्तन के इस चरम बिन्दु तक यज्ञ-सम्बन्धी उनकी धारणा का विस्तार हुआ। फिर भी समाज के उच्च वर्णों—ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के सामान्य जीवन में भौतिक यज्ञों द्वारा देवों (जिनसे सम्बन्धित स्तोत्र संहिताओं में उपलब्ध हैं) को प्रसन्न करने की इच्छा अधिक महत्ता प्राप्त करती रही। यज्ञ तथा ऋत और सत्य के नियमों के साथ-साथ संसार पर भी अधिकाधिक चिन्तन किया गया। संसार-सम्बन्धी धारणा का

मुख्यार्थ था—कर्म-सिद्धान्त के फलस्वरूप जन्म ग्रहण करने के कारण प्राप्त सांसारिक अस्तित्व । विचारशील समुदाय को जन्मजन्मान्तर के चक्र से मुक्ति प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी; क्योंकि यह समझा जाने लगा कि मानव स्व-जीवन में एक नियम में आबद्ध होता है तथा वह उसका उल्लङ्घन भी करता है । इसी कारण वह पुनर्जन्म को प्राप्त होता है । ब्राह्मण एवं संहिताओं की मूल विचारधारा परिपक्व हो कर नियम भङ्ग करने के कारण उत्पन्न कामनाओं से मुक्ति पाने की आवश्यकता में रूपान्तरित हुई । इसी आवश्यकता को आरण्यकों में तप या आत्मसंयम की संज्ञा दी गयी । अरण्य में एकान्त-जीवन व्यतीत करने वाले तपस्वियों को संहिताओं के स्तोत्रकारों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के याजकों से अधिक सम्मान प्राप्त होने लगा । वेदों के यज्ञों को बाह्य स्थूल आहुतियों के रूप में देखने की अपेक्षा उन्हें अन्तःध्यान की क्रिया के रूप में देखने की वृत्ति को सबल भूमिका प्राप्त हुई । वेदों के प्रारम्भिक भागों में वर्णित आनुष्ठानिक धर्मचर्या का प्रवाह उपनिषदों में सृष्टि के रहस्यमय चिन्तन की ओर मुड़ गया । उस समय यह भी ज्ञात हुआ कि परिणाम अथवा फल प्राप्त्यर्थं भौतिक यज्ञ की अपेक्षा अन्तर्यज्ञ अधिक सशक्त है ।

सत्य की खोज

अरण्यवासी महात्माओं ने यज्ञों की अपेक्षा ध्यान-प्रक्रिया में अधिक समय देना प्रारम्भ कर दिया और अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल पर इतरजनों से अपनी विशिष्ट महत्ता सिद्ध की । वे अपने को कर्मकाण्डी सिद्धान्तों की रुढ़िगत औपचारिक-

ताओं से असम्बद्ध रखते हुए तप अथवा आत्मसंयम द्वारा प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करने का यत्न करने लगे। इस प्रकार उन्हें संसार की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान एक साथ प्राप्त करने की शक्ति मिली। वे सर्वज्ञ बन गये और उन्होंने बिना किसी अवरोध के ब्रह्माण्ड के विविध क्षेत्रों में आवागमन करने की क्षमता प्राप्त कर ली। कतिपय ऋषिगणों की आध्यात्मिक शक्ति अंशतः ईश्वर की शक्ति के समान बन गयी और वे स्वेच्छानुसार मात्र दृष्टिपात करके वस्तुओं की सृष्टि, पालन या नाश करने में समर्थ बन गये। उन्होंने ध्यान-प्रक्रिया से ही ब्रह्माण्ड के विविध रहस्यों का उद्घाटन किया और परम तत्त्व-रूप जगदीश्वर परमात्मा के अनुकूल बन सके। मृत्यु पर विजय प्राप्त करके उन्होंने जन्म-मरण से मुक्ति पायी। वे सर्वजयी बने। उपनिषदों के शब्दों में वे सर्व विश्व के स्वामी थे अथवा स्वयं ही विश्वरूप थे। आध्यात्मिक साक्षात्कार का ऐसा महान् गौरव था ! इन ऋषियों के दिव्य अनुभव ही आरण्यकों एवं उपनिषदों की विषय-सामग्री बने।

उपनिषदों का तत्त्व-ज्ञान

सृष्टि का सिद्धान्त

उपनिषद् ब्राह्मणजनों के प्रभुत्व अथवा यज्ञों की प्रभावोत्पादकता को अस्वीकार नहीं करते; किन्तु वे यज्ञ-विधियों को मात्र एक आध्यात्मिक अभ्यास मानते हैं। बाह्य यज्ञों अथवा धर्म-क्रियाओं से ज्ञान की प्यास नहीं बुझ सकी।

ब्रह्माण्ड की सृष्टि के रहस्य को सुलझाना आवश्यक था। ब्रह्माण्ड के साथ मानव के बाह्य और आन्तरिक सम्बन्धों का भी पता लगाना आवश्यक था। ऋग्वेद के सृष्टिसूक्त अथवा नासदीयसूक्त में सर्वप्रथम ब्रह्मा को जानने का प्रयत्न किया गया। वृहदारण्यक उपनिषद् में ध्यान करते समय अश्वमेधयज्ञ को ब्रह्माण्ड की एक प्रक्रिया मानने को कहा गया है। उपनिषद् में सृष्टि-विषयक विविध मान्यताओं का उल्लेख है। इनके आधार पर हम सृष्टि की समग्र योजना को निम्न प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं :

ब्रह्मा सत्य है। बहुधा उसका पुरुष के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है। जब ब्रह्मा सृजन की क्षमताओं से पूर्ण होता है तब उस परिस्थिति को 'अव्यक्त' कहा गया है। उत्तरकालीन वेदान्त में उसे 'ईश्वर' कहा गया है। साङ्ख्य की शब्दावली में यह परिस्थिति समस्त वस्तुओं की प्रकृति है। जब विश्वेच्छा (Cosmic will) पूर्णतया व्यक्त होती है, तब उसे 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं। साङ्ख्यदर्शन में इसे 'महत्' की संज्ञा दी गयी है। जब हिरण्यगर्भ विश्व में पूर्णरूप से व्यक्त होता है, तब वह विराट् में परिणत होता है। सृष्टि की परवर्ती प्रक्रिया के रूप में संसार का प्रारम्भ होता है। यही परम तत्त्व से विलग होने के बाद विशिष्टीकरण की प्रक्रिया है।

जब सर्वव्यापक विराट् के विभिन्न रूप उसके प्रभाग बन कर प्रकट होते हैं, तब अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव के रूपों में उसकी कल्पना की जाती है। ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मनो-वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के अपने-अपने बाह्य स्थूल प्रतिरूप होते हैं। उनके ऊपर शासन करने वाले उनके अधिष्ठातृ देवता भी होते

हैं। इस प्रकार श्रवणेन्द्रिय का प्रतिरूप शब्द (आकाश) है और दिशाएँ उसकी अधिष्ठातृ देवता हैं। इसी भाँति स्पर्शेन्द्रिय का प्रतिरूप स्पृश्यता का ठोसपन (हवा) है और इसका अधिष्ठातृ देवता वायु है। रूपेन्द्रिय (चक्षु) का प्रतिरूप रङ्ग (अग्नि) है तथा सूर्य अथवा आदित्य उसका अधिष्ठातृ देवता है। रससंवेदी मुख (जल) स्वादेन्द्रिय का प्रतिरूप है और वरुण उसका अधिष्ठातृ देवता है। गन्ध (पृथ्वी) घ्राणेन्द्रिय का प्रतिरूप है और अश्विन उसके अधिष्ठातृ देवता हैं। वाणी, ग्रहण-शक्ति (हाथ), गति (पैर), प्रजनन और मलत्याग की इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता क्रमशः अग्नि, इन्द्र, विष्णु, प्रजापति और यम हैं। विचार (मनस्), समझ (बुद्धि), अहङ्कार और स्मृति (चित्त) के अधिष्ठातृ देवगण क्रमशः चन्द्र या सोम, ब्रह्मा और विष्णु हैं। स्थूल प्रतिरूप और उनके अधिष्ठातृ देवताओं के अतिरिक्त उपर्युक्त क्रियाओं के विशिष्ट स्थान भी स्थूल देह में हैं, जैसे कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा (स्वाद), नासारन्ध्र, मुख, हस्त, पाद, जननेन्द्रिय एवं गुदा। मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं—मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा अवचेतन (अचेतन के साथ)। अधिक प्राचीन उपनिषदों में यह विवरण पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है; किन्तु बाद के उपनिषदों में दी गयी व्याख्याओं में इनके बारे में सङ्केत मिलते हैं।

अब तक विश्व की सृष्टि के सिद्धान्त के बारे में जो-कुछ बताया गया है, उसका आधार उपनिषदों में दिये गये विभिन्न सम्बन्धित वक्तव्य हैं; किन्तु सृष्टि-प्रक्रिया की पद्धति का विस्तृत वर्णन इतिहास (महाकाव्यों) तथा विशेषकर पुराणों में मिलता है। यद्यपि इतिहास-पुराणों के ये तथ्य उपनिषदों के सृष्टि-

सिद्धान्तों के निरूपण में नहीं पाये जाते, फिर भी इन पर विचार करना उपयोगी होगा।

ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों और शरीर में उनके स्थानों के साथ-साथ आकाश, वायु, तेज एवं ऊष्मा-सहित अग्नि, जल तथा पृथ्वी-रूप भौतिक वृत्तिरूपों की भी सृष्टि हुई है। स्रष्टा ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ अपने मनस् से सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा सनत्सुजात—इन मानसपुत्रों का भी सृजन करते हैं। तत्पश्चात् ब्रह्मा के समष्टि शरीर से प्राणियों के प्रथम पूर्वजों के रूप में मरीचि, अत्रि, अङ्गिरास, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद प्रकट होते हैं। बाद में विश्व के प्राथमिक देवगण—त्रिमूर्ति—में से एक शिव अथवा रुद्र का प्राकट्य माना गया है। उसके बाद ब्रह्मा के शरीर से उसके एक आकार के दो अर्धाङ्ग-स्वरूप आदि राजा मनु और आदि रानी शतरूपा प्रकट होते हैं। मनु तथा शतरूपा के प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति नामक तीन पुत्रियाँ थीं। मनु और शतरूपा की इन सन्तानों तथा उपयुक्त उल्लिखित मरीचि, अत्रि आदि के बीच सम्बन्ध स्थापित होने से ही समस्त लोकों में सारी सृष्टि हुई है।

देव, गन्धर्व, अप्सरा, पितृगण, यक्ष, सिद्ध, चारण, विद्याधर, किन्नर, किम्पुरुष आदि कम महत्त्वपूर्ण स्तर के देवगणों तथा उनसे भी कम महत्त्व के नाग, राक्षस, भूत, प्रेत एवं पिशाचों की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन पुराणों में उपलब्ध है। श्रीमद्भागवत-पुराणानुसार औषधियों, प्राणियों तथा मनुष्यों की सृष्टि

इन्हीं उपर्युक्त प्रकार के जीवों (नागों, राक्षसों आदि) के साथ ही हुई है।

सृष्टि के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण विचार यह है कि ईश्वर, हिरण्यगर्भ तथा विराट् के सन्दर्भ में समष्टि चैतन्य की सङ्कल्पना के बाद ही पदार्थों की सृष्टि हुई है (दृष्टि-सृष्टि), जबकि वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक अवबोध पदार्थों के जगत् में सृजन के बाद होता है (सृष्टि-दृष्टि)।

पुराणों में लोकों का वर्गीकरण इस प्रकार से है : (१) भूलोक, (२) भुवर्लोक, (३) स्वर्लोक, (४) महर्लोक, (५) जनलोक, (६) तपोलोक, तथा (७) सत्यलोक। ये लोक निम्न-लिखित स्तरों के अस्तित्वों के संसारों के अनुरूप ही हैं : (१) अचेतन सृष्टि—वृक्ष, पक्षी एवं मनुष्य (भूलोक), (२) पितृगण और उनके समकक्ष अस्तित्व (भुवर्लोक), (३) देव, गन्धर्व तथा अप्सरा, जिनके शासक इन्द्र तथा गुरु बृहस्पति हैं (स्वर्लोक), तथा (४) तपस्यारत सिद्ध और ऋषिगण, जिन्हें महर्लोक जनलोक तथा तपोलोक के निवासी कहा जा सकता है। रुद्र के प्राकट्य से उच्चतर स्तर की सृष्टि के प्राणी सत्यलोक के अधिपति देवता हैं। तदुपरान्त नर तथा नारायण, वसिष्ठ, व्यास, शुक आदि उच्चस्तरीय आध्यात्मिक सत्ताओं का वर्णन है। ये इच्छानुसार किसी भी लोक में निवास कर सकते हैं। उपनिषदों में इस प्रकार के विस्तृत वर्णन नहीं पाये जाते। पुराणों के उत्पत्ति-सिद्धान्त के मूल विषय के रूप में ही ये वर्णन उपलब्ध हैं।

तत्त्वमीमांसा

उपनिषदों के अनुसार यह सृष्टि तत्त्वतः एक आध्यात्मिक एकता है। जड़ या चेतन जो-कुछ भी है, वह ईश्वर से व्याप्त

है; अतः उसकी उपासना का अर्थ है—वस्तुओं के स्वामित्व की भावना का त्याग । इस प्रकार लोभ करने का अर्थ यह हो जाता है कि हम सर्वव्यापी सत्य के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को ही नकार रहे हैं । जीवन और उसके क्रिया-कलाप परम सत्ता के ध्यान से पृथक् नहीं हैं । ईश्वर ही सर्वस्व हैं, यह स्वीकार करते हुए परिस्थितियों के साथ साहसपूर्वक निर्वाह करना और नेतृत्व तथा कर्तृत्व की भावनाओं से रहित हो कर कर्म करना ही वास्तविक ध्यान है ।

मानवीय क्षमताओं की सहायता से परमात्मा को न देखा-सुना जा सकता है और न समझा जा सकता है । अहम् का नाश होने के पश्चात् ही उसे ज्ञात किया जा सकता है । वह नेत्रों से देखता है, कानों से श्रवण करता है, मन से विचार करता है, बुद्धि द्वारा समझता है और प्राणों के द्वारा श्वास भी लेता है; किन्तु इन सारे उपकरणों से परमात्मा को नहीं समझा जा सकता । 'मैं उसे जानता हूँ'—ऐसा जो मानता है, वह वस्तुतः जानता ही नहीं । वह परमात्मा उसी के द्वारा जाना जाता है जो यह नहीं समझता कि मैं कोई विशेष जानकारी रखता हूँ । यदि इसी जीवन में उसका ज्ञान हो जाय तो समस्त आकांक्षाओं का अन्त हो जायेगा । यदि मानव उसे इसी जीवन में ज्ञात नहीं कर पाता है तो वह वास्तव में अपनी बहुत बड़ी हानि कर रहा है । जो ऋषि विश्व के प्रत्येक प्राणीमात्र में केवल उस आत्म-तत्त्व (परमात्मा) का ही दर्शन करते हैं वे मृत्यु के पश्चात् अमर होते हैं । अतः मानव को परम सत्य-रूप परमात्मा का चिन्तन उसे परम प्रेम और परम आनन्द का पर्याय मान कर ही करना चाहिए ।

तब विश्व से भी ऐसे चिन्तक को प्रतिदान में भरपूर प्रेम और आनन्द की प्राप्ति होती है ।

इन्द्रिय-सुख क्षणिक है । इस सुख से मानव की ऊर्जस्विता का ह्रास होता है तथा यह उसके विनाश का कारण बनता है । अधिकाधिक भोगों से युक्त दीर्घतम जीवन भी अन्ततोगत्वा मूल्य-हीन ही है । इस विश्व में आत्मज्ञान ही जीवन का एकमात्र अभीष्ट उद्देश्य है । श्रेय और प्रेय में महान् अन्तर है । ये दोनों ही मानव के लिए उपलब्ध हैं । जो विवेकवान् है, वह इस अन्तर को समझता है तथा श्रेय का ही अनुसरण करता है । अज्ञानी प्रेय को स्वीकार करता है और निजी आमोद-प्रमोद में आसक्त होने के कारण वह मृत्यु के व्यापक जाल में जा फँसता है । वस्तुतः यहाँ कोई विविधता नहीं है । मानव को चाहिए कि विश्व के विविध पदार्थों में एक ही अविभाज्य तत्त्व का दर्शन करे । जो यहाँ भेद और भिन्नता देखता है, वह बार-बार जन्म लेता है और मृत्यु को प्राप्त होता है ।

जो इस तथ्य को जान लेता है, वह एक साथ ही सभी-कुछ जान लेता है । जो उस परम तत्त्व को जान लेता है, वह 'वही' बन जाता है । 'वही' सर्वरूप है । वह प्रत्यक्ष ज्ञान तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं से परे है । वह सर्वपदार्थों का आदि और अन्त, शान्त, आनन्दरूप तथा अद्वैत है । वह ही सत्य, ज्ञान और अनन्त है ।

जो उस परम तत्त्व और अपने अस्तित्व में भेद नहीं देखता है, वह एक साथ ही सब-कुछ प्राप्त कर लेता है, एक साथ ही सब-कुछ बन जाता है और त्वरित ही सब वस्तुओं को भोग

लेता है। अत्यन्त भाग्यशाली है वह और अद्भुत है उसका अनुभव, धन्य हैं उसके मित्र, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हैं उसके सम्बन्धी जिसे ऐसे महापुरुष का आशीर्वाद प्राप्त होता है।

परम तत्त्व चैतन्य रूप है। वह जीवन का मूल है। वह सूर्य के समान आलोकित है, चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान है, तारों की तरह टिमटिमाता है। पत्थरों में वही सोता है। वनस्पतियों में वही साँस लेता है। प्राणियों में वही चिन्तन करता है और मानवों में वही विवेचना करता है। विश्व के किसी भी भाग को उसके अन्य समस्त भागों के साथ जब तक न देखा जाये तब तक उस भाग को सम्पूर्ण नहीं समझना चाहिए। सूर्य एवं चन्द्र उसके अंश मात्र हैं। सौर-मण्डल, नक्षत्र-लोक एवं खगोलीय पिण्ड—ये सब भी उसके अंश हैं। यदि किसी विशेष वस्तु को ही ध्यान का विषय निश्चित किया जाये तो वह ध्यान पूर्ण नहीं होगा। यदि सत्ता के समग्र रूप को ध्यान का विषय निश्चित न किया गया तो वह ध्यान अपूर्ण होगा। ध्यान का विषय पूर्णता ही हो सकती है। इस पूर्णता के पहलू हैं दृश्यता और मनोगम्यता। इस प्रकार के ध्यान में ध्याता का व्यक्तित्व सर्व-व्यापक परम सत्ता में विलीन हो जाता है। ध्यान स्वयं विलीन हो जाता है और मात्र ध्येय ही शेष रह जाता है। जो इस रहस्य का ज्ञाता है, उसके कर्म सर्वतोमुखी तथा विश्वव्यापक बन जाते हैं। वह जो भोजन ग्रहण करता है, वह समग्र विश्व का नैवेद्य बनता है। उसके सन्तोष में समग्र विश्व को आनन्द एवं सन्तोष प्राप्त होता है। जो कोई भी उसे भोजन प्रदान करता है, उसका वह भोजन सृष्टि की वेदी पर सम्पन्न आध्यात्मिक यज्ञ बन

जाता है। इस चिन्तन के साथ यदि कोई चाण्डाल को अन्न का दान करता है तो सच ही वह परम तत्त्व को ही समर्पित होता है। जैसे भूखे बालक माता की कृपादृष्टि प्राप्त करने हेतु उसके चारों ओर बैठ जाते हैं, उसी प्रकार सृष्टि के समस्त जीव अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए इस रहस्य के ज्ञाता की ओर निहारते रहते हैं।

असीम परम तत्त्व ही परमानन्द है। ससीमता में आनन्द नहीं है। जब मानव को एक परम तत्त्व के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखायी पड़ता, कुछ नहीं सुनायी पड़ता, कुछ नहीं समझ में आता, तब वह असीमता में विचरण करता है। जब वह उस तत्त्व के अतिरिक्त भी कुछ देख सकता है, सुन सकता है, समझ सकता है, तब वह ससीमता की सङ्कीर्ण परिधि में फँस जाता है। असीम अमर तत्त्व है। ससीम मरणशील सत्ता है। असीम अपनी महत्ता पर ही प्रतिष्ठित है। वह स्वयं अपने-आप पर ही आधारित है। उसे किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं है। वह आगे-पीछे, ऊपर-नीचे सर्वत्र है। वह एक साथ ही सब-कुछ है। जो इस तत्त्व को जानता है; संसार की हर वस्तु परम तत्त्वरूप उसकी आत्मा से ही प्रकट होती है। उसकी दृष्टि में व्यक्त और अव्यक्त समग्र ब्रह्माण्ड उसकी आत्मा से ही उद्भूत होता है। देश और काल की सीमाओं से परे रह कर ब्रह्माण्ड उसकी सेवा करने के लिए तत्पर रहता है।

जो उस परम तत्त्व की सर्वव्यापकता और सर्वोच्चता को समझता है, वह स्वयं सर्वव्यापक और सर्वोच्च हो जाता है। ज्ञान ही परम सत्ता है। ज्ञान शक्ति है। चैतन्य ही सत्

और आनन्द है। जो उस असीम सर्वव्यापक परम तत्त्व को ससीम विश्व की वस्तुओं में ढूँढता है, वह उसे नहीं पा सकता। असीम को ससीम द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। नित्यता की उपलब्धि अनित्यता के द्वारा नहीं होती। साधन तथा साध्य दोनों ही असीम परम तत्त्व हैं।

कोई भी मानव किसी भी वस्तु को, उस वस्तु के कारण नहीं प्रेम करता। उसका समस्त प्रेम अपनी ही (सर्वव्यापक) विराट् आत्मा के प्रति होता है। जो परम तत्त्व प्रत्येक वस्तु-पदार्थ में दृष्टिगोचर हो रहा है, उसके कारण ही कोई वस्तु प्रिय होती है। प्रिय की अनुभूति में अनन्त ही अनन्त को बुलाता है। व्यक्ति एवं वस्तु अपने-अपने कारणों से प्रिय नहीं लगते। विश्व में सर्वप्रकार के प्रेम की जड़ स्वार्थ ही होता है; परन्तु द्रष्टा तथा दृश्य से परे उसका एक उच्चतर लोकातीत अर्थ भी होता है। जो सांसारिक प्रेम में छिपे हुए रहस्य को जानता है, वह सत्य को जानता है तथा मरणशीलता की दासता से मुक्ति प्राप्त करता है। अपनी सर्वव्यापक आत्मा का ज्ञान सभी वस्तुओं का ज्ञान है; किन्तु जो किसी वस्तु को अपने से पृथक् अनुभव करता है, वह उस वस्तु को खो देता है।

जहाँ द्वैत या भेद-दृष्टि है, वहाँ ही मनुष्य किसी अन्य को देखता है, कोई दूसरी बात श्रवण करता है, कोई दूसरी वस्तु सूँघता है, किसी दूसरे के साथ बात करता है, किसी दूसरी वस्तु का स्वाद लेता है, किसी दूसरी चीज को स्पर्श करता है, किसी अन्य विषय के बारे में चिन्तन करता है और कोई दूसरी बात समझता है। किन्तु जहाँ अभेद या अद्वैत (दृष्टि) है वहाँ

मनुष्य उस परम तत्त्व के अतिरिक्त किसी अन्य को क्यों देखे और किसके द्वारा देखे ? क्या और किसके द्वारा सुने या सूँघे, बोले या स्पर्श करे या सोचे । जिसके द्वारा मानव समस्त वस्तुओं को देख या जान पाता है, उसे वह किस प्रकार से और किसके द्वारा जाने ? परम ज्ञाता का ज्ञान वह किस भाँति प्राप्त करे ? यही ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान की निधि है । इस ज्ञान को प्राप्त करने के बदले सारी पृथ्वी भी देनी पड़े, तब भी महत्त्व की दृष्टि से इस ज्ञान का पलड़ा धरती के पलड़े से भारी पड़ेगा । और धरती ही क्यों, सभी मूल्यवान् वस्तुओं से भी अधिक मूल्यवान् है यह ज्ञान !

आध्यात्मिक साक्षात्कार के विषय को उपनिषद् इसी प्रकार निरूपित करते हैं । उनके अनुसार असत् से सत्, तम से ज्योति तथा नश्वरता से अमरत्व की ओर अग्रसर होने की ही आकांक्षा मानव-जीवन में होनी चाहिए ।

व्यक्तिगत ईश्वर

उपनिषद् अपने अभिगम (Approach) में निरपेक्षवादी हैं, फिर भी वे एकाङ्गी नहीं हैं । जहाँ एक ओर उनमें सर्व-साधारण की बुद्धि से परे ब्रह्म-विषयक चिन्तन प्रस्तुत किया गया है, वहीं मानव की भावप्रधान आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए एक ऐसे ईश्वर का भी वर्णन किया गया है जो ब्रह्माण्ड को अपनी लीला मात्र समझते हुए उसकी सृष्टि करता है, पालन करता है और संहार करता है । अभी यहाँ हम उत्तर-उपनिषद्-काल के शङ्कर और रामानुज के वेदान्त-सम्बन्धी तर्कों को प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं । उपनिषद्-काल में इन तर्कों की

आवश्यकता नहीं थी। समस्त सृष्टि में एक दिव्य तत्त्व की व्याप्ति की धारणा से उत्पन्न आनन्द में निमग्न रहना ही तत्कालीन ऋषियों के लिए पर्याप्त था। वैदिक मन्त्रों के ऋषियों की प्रवृत्ति इसी प्रकार की थी। उस काल में ईश्वर और ब्रह्म के विभेद जैसे विषयों की बौद्धिक व्याख्याएँ नितान्त अनपेक्षित थीं। यदि ब्रह्म ही सब-कुछ है, तो वही सृष्टि भी है और समस्त ब्रह्माण्ड की प्रक्रियाओं में उसकी शक्ति के दर्शन किये जा सकते हैं। वेदान्त की विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर-सम्बन्धी विभिन्न धारणाएँ ब्रह्म में ही समाहित हो जाती हैं और उपनिषदों में इस बात को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है कि ब्रह्म को समर्थ, स्रष्टा, पालक, परिवर्तक (रूपान्तरकर्त्ता) के रूप में स्वीकार किया जाये अथवा अनवधार्य (Indeterminate) सत्ता के रूप में।

बृहदारण्यक और माण्डूक्य उपनिषदों में अन्तर्यामी, सर्वेश्वर, सर्वाधिपति, भूताधिपति तथा भूतपाल के रूपों में परम सत्ता को स्वीकार किया गया है। उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, समस्त जड़-चेतन जगत् का स्रोत, आदि और अन्त माना गया है। वेदान्त में ईश्वर की जो धारणा है, उसका यह प्रथम चरण है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर को सर्वाधिपतियों का अधिपति, सब देवों का ईश्वर, शासकों का शासक तथा ऐसी अद्वितीय सत्ता के रूप में माना गया है जो न किसी का परिणाम है और न कारण। वह एक ऐसी पराशक्ति से युक्त है जो सृष्टि की प्रक्रिया में इच्छा, बल और क्रिया के रूप में कार्य करती है। उस महान् ईश्वर की पहचान कराने वाले कोई निश्चित लक्षण नहीं होते। वह ईश्वर भौतिक सुख-दुःख से प्रभावित नहीं होता

—उसी प्रकार जैसे द्रष्टा मानव के नेत्र-दोष का सूर्य पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। वह बिना हाथों के ग्रहण करता है, बिना चरणों के द्रुतगति से चलता है, बिना नेत्र के देखता है, बिना कान के श्रवण करता है। वह सबको जानता है, किन्तु उसे कोई नहीं जानता। वह नानात्व-वैविध्य की धारणा से पृथक् है और सूर्य के समान आलोकित दिव्य पुरुष है। उस एक को ही जान कर मानव कालजयी बन सकता है। उसको प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

नीतिशास्त्र

उपनिषदों का नीतिशास्त्र आध्यात्मिक तथा तात्त्विक है। उनके अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ (जिसमें सामाजिक और राज-नैतिक जीवन-वृत्ति भी सम्मिलित है) और सांसारिक जीवन में सक्रिय सहभागिता से निवृत्ति—इन तीन समय-खण्डों में विभाजित जीवन ब्रह्म-साक्षात्कार की पूर्व-तैयारी है। इस साक्षात्कार से जीवन के प्रत्येक उद्देश्य की पूर्ति होती है। यही समस्त इच्छाओं तथा आकांक्षाओं का चरम बिन्दु है। जिन महान् पुरुषों को यह साक्षात्कार हुआ है, वे काम, धन और सांसारिक उपलब्धियों की आकांक्षाओं से ऊपर उठ जाते हैं। उनके लिए ब्रह्म ही संसार है। ब्रह्म ही उनकी आत्मा है। एक ब्रह्म में ही सब-कुछ समाहित है, इस सत्य को समझते हुए वे किसी से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखते। वे अपनी आत्मा-रूप ब्रह्म के आनन्द में सतत निमग्न रहते हैं।

किन्तु ऐसे आध्यात्मिक अनुभव उन्हीं को होते हैं जो शम (मानसिक शान्ति), दम (आत्म-नियन्त्रण), उपरति (बाध्यकर

कार्य-कलापों के नियन्त्रण से मुक्ति), तितिक्षा (सहनशक्ति), श्रद्धा (आदर्श में आस्था) और समाधान (मानसिक एकाग्रता की क्षमता) के गुणों से युक्त हैं। उपनिषदों का कथन है कि जब मानव पूर्णरूप से इच्छामुक्त हो जाता है, तब वह मरणशील से अमर बन जाता है और इस प्रकार ब्रह्म-पद को प्राप्त करता है। जब हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तब ही मानव अमृतत्व को प्राप्त करता है। उपनिषद् कहते हैं—यही परम उपदेश है; किन्तु इस उच्च लक्ष्य को अपने जीवन का आदर्श बनाना सर्व-साधारण के लिए कठिन है, क्योंकि विश्व में श्रेय के साथ-साथ प्रेय भी है और अधिकतर मानव श्रेय को त्याग कर प्रेय की ओर ही आकर्षित होता है, आत्म-कल्याण के स्थान पर इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले आनन्द को ही महत्त्व देता है। केवल उच्च संस्कारयुक्त मानव ही इन्द्रिय-सुख की उपेक्षा करके उच्चतर कल्याण की ओर अग्रसर होते हैं। दुर्भाग्य से जितनी सरलता से प्रेय उपलब्ध हो जाता है उतनी सरलता से श्रेय प्राप्त नहीं होता। उपनिषदों के अनुसार जब तक मानव दुराचार का त्याग न करे और मानसिक धैर्य, इन्द्रिय-संयम, चरम एकाग्रता और वैचारिक प्रशान्ति की स्थिति तक न पहुँच जाये, तब तक मात्र बौद्धिक ज्ञान की सहायता से वह परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

छान्दोग्य उपनिषद् में 'दम्यत' (दमन या आत्मनियन्त्रण करो), 'दत्त' (दान करो) तथा 'दयध्वम्' (दया करो)—इन तीन शब्दों की गागर में एक महत्त्वपूर्ण उपदेश का सागर भर दिया गया है। ये तीन शब्द क्रमशः देवों, मानवों तथा असुरों को सम्बोधित करके कहे गये हैं। इस उपदेश में आध्यात्मिक

पूर्णता की ओर आत्मा के ऊर्ध्वगमन की पूर्वपिक्षा के रूप में इन्द्रिय-नियन्त्रण, आत्म-त्याग, सृष्टि के प्रति प्रेम-भावना की जो बातें कही गयी हैं उनमें प्राचीन नैतिक धारणा का सार निहित है।

गुरुओं द्वारा विद्यार्थियों को दिया गया उपदेश दृष्टव्य है—
सत्य बोलो, सदाचरण करो, सद्ग्रन्थों के अध्ययन की उपेक्षा न करो, देवों तथा पितृ-जनों की पूजा में प्रमाद न करो, माता-पिता को देव-समान मानो, आचार्य को देव-तुल्य मानो। अतिथि भी देव-तुल्य हैं। केवल सत्कर्म ही करो, अन्य कर्म नहीं। श्रद्धापूर्वक दो, विपुल मात्रा में दो, नम्रतापूर्वक दो, सम्मानपूर्वक दो, सहानुभूतिपूर्वक दो। यह उपदेश किसी भी सर्वोच्च नैतिक सिद्धान्त के समकक्ष है।

विश्व-व्यापक प्रेम को मात्र सम्भावना ही नहीं माना गया है। यह एक वास्तविक उपलब्धि है। जो अपने को समस्त प्राणियों में तथा उन्हें अपनी ब्रह्म-रूप आत्मा में देखता है, वह किसी से जुगुप्सा नहीं करता। जैसे बच्चे अपनी माता के चारों ओर बैठ कर उसे प्रेमभरी दृष्टि से देखते हैं, उसी प्रकार सब प्राणियों की ऐसे ही व्यक्ति पर दृष्टि रहती है। जो सबको प्रेम करता है, उसे सब प्रेम करते हैं। वह स्त्री, पुरुष, बालक या बालिका सब-कुछ है। वही मानव-चक्षुओं को धोखा देता हुआ बूढ़ा बन कर लाठी टेकता हुआ चलता है; क्योंकि वही सर्व पदार्थ-रूप है।

मनोविज्ञान

उपनिषदों में चेतन, अवचेतन, अचेतन तथा पूर्ण निरपेक्ष चेतन के पहलुओं से निर्मित योगिक के रूप में व्यक्ति की चर्चा की गयी है। मन और इन्द्रियों की जाग्रतावस्था में व्यक्ति स्थूल पदार्थों की बाह्य चेतना में तल्लीन रहता है। स्वप्नावस्था में वह स्मृति में से प्रक्षिप्त मानसिक या अतीन्द्रिय पदार्थों की आन्तरिक चेतना (जो बहिर्मुखी बन कर कार्य करती है) में तन्मय रहता है। सुषुप्ति-अवस्था में प्रत्येक वस्तु का अज्ञान चैतन्य को पूर्णरूप से आच्छादित कर देता है। सुषुप्ति की इस कारणात्मक अवस्था में स्वप्न तथा जाग्रत अवस्थाओं के बीज छिपे रहते हैं। जो व्यक्ति और समष्टि में व्याप्त है वह आत्मा या परब्रह्म (आत्मा की) इन तीनों अनुभवजन्य अवस्थाओं से परे रहता है।

परब्रह्म न तो जाग्रत-अवस्था की बाह्य चेतना है, न स्वप्नावस्था की आन्तरिक चेतना और न सुषुप्ति-अवस्था की अज्ञान द्वारा आच्छादित चेतना। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार ब्रह्मरूप आत्मा चेतना की तीनों दशाओं (जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से रहता है) से परे रहता है। आत्मा एक ऐसी सत्ता है जो सापेक्ष नहीं है, जिसे समझना कठिन है, जिसकी परिभाषा नहीं की जा सकती, जो दृश्य नहीं है तथा जो अचिन्त्य और अकथनीय है। दृश्य-जगत् का प्रत्यक्ष ज्ञान उसके समक्ष विलीन हो जाता है तथा एक नवीन प्रकार के ज्ञान—जो बोधगम्य नहीं है—का प्रादुर्भाव होता है। उपर्युक्त चेतना की तीनों सापेक्ष दशाओं के सन्दर्भ में इस नवीन

ज्ञान को चेतना की चतुर्थ दशा कह सकते हैं। सापेक्ष का ध्येय निरपेक्ष ब्रह्म को प्राप्त करना है। वह 'मैं' का तत्त्व, जो चेतना की चारों दशाओं पर अपना प्रभाव डालता है, आत्मा है। यह आत्मा अनुभवातीत तथा इन्द्रियातीत है; परन्तु इसके साथ-ही-साथ समस्त वस्तुओं तथा ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। माण्डूक्योपनिषद् में जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं को क्रमशः वैश्वानर, तेजस् तथा प्राज्ञ कहा गया है। परवर्ती वेदान्त में इन अवस्थाओं के अनुरूप ही विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर की ब्रह्माण्डीय परिस्थितियों का वर्णन मिलता है तथा इनमें (उपर्युक्त अवस्थाओं तथा परिस्थितियों में) परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया गया है। आत्मा (जो जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की तीनों अवस्थाओं से परे रहता है) को उस ब्रह्म के समरूप माना गया है जो विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर की ब्रह्माण्डीय परिस्थितियों के परे है। तत् (सर्वव्यापक तत्त्व) त्वम् (साररूप में व्यक्ति-विशेष) असि (है) अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है—यह माण्डूक्योपनिषद् का कथन है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं का अतिरिक्त वर्गीकरण अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय चेतना के इन पाँच कोशों के रूप में भी किया गया है। अन्नमय-कोश जाग्रत-अवस्था में क्रियाशील रहता है। प्राणमय, मनोमय, और विज्ञानमय-कोश जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में सक्रिय रहते हैं तथा आनन्दमय-कोश तीनों अवस्थाओं में किन्तु विशेषतः सुषुप्ति की अवस्था में कार्य करता है। अन्नमय-कोश स्थूल शरीर-रूप है। प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोश सूक्ष्म शरीर-रूप हैं तथा आनन्दमय-कोश आत्मा

अथवा जीव का कारण शरीर-रूप है। ब्रह्मरूप आत्मा पाँचों कोशों से परे है। वस्तुतः वही अपनी उपस्थिति से उन पाँचों कोशों को क्रियाशील बनाता है।

युगान्त-विज्ञान (Eschatology)

देहत्याग के पश्चात् आत्मा किस मार्ग से और किस क्रम से गमन करता है, इसका स्पष्ट वर्णन उपनिषदों में मिलता है। कर्मबद्ध जीवात्मा मृत्यु के पश्चात् (१) पृथ्वी पर वापस आ सकता है, (२) पृथ्वी से पृथक् किसी दूसरे लोक में जन्म ग्रहण कर सकता है, (३) मध्यवर्ती लोकों में देहमुक्त योनि (प्रेत के रूप) में भटकता रह सकता है, (४) पितृलोक में जा सकता है, (५) स्वर्ग में गमन कर सकता है, (६) नर्क में गिर सकता है, तथा (७) सूर्य-द्वार से होता हुआ ब्रह्मलोक में प्रवेश करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है (यदि वह सर्वोच्च स्तर का आध्यात्मिक साधक रहा है)। इस प्रकार की मोक्ष-प्राप्ति को क्रम-मुक्ति कहते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार पूर्णरूपेण निष्काम जीवात्मा यहाँ ही—इसी जीवन में—ब्रह्म की प्राप्ति करता है। उसे किसी लोक में नहीं जाना पड़ता। इस प्रकार की ब्रह्म-प्राप्ति को सद्योमुक्ति (त्वरित-मोक्ष) कहते हैं।

किसी भी प्रकार की वासना से युक्त जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के विविध स्नायुमार्गों से गमन करता है। आध्यात्मिक रूप से प्रबुद्ध जीवात्मा, सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से सूर्यलोक से होता हुआ ब्रह्मलोक में पहुँचता है। जीवात्मा द्वारा ब्रह्मलोक तक पहुँचने के मार्ग का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है। उपनिषदों में इस मार्ग का वर्णन यत्र-तत्र बिखरा हुआ है। उसे क्रमपूर्वक

एकत्र करने से उसकी रूपरेखा—जो देवयान (या देवताओं के मार्ग) से सम्बन्धित है—इस प्रकार बनती है :

जीवात्मा अग्नि के देवता के पास पहुँचता है। वहाँ से क्रमशः दिवस, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, वर्ष, खगोलीय लोक, वायु-लोक, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक की ओर ऊर्ध्वगमन करता हुआ अन्ततोगत्वा ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। जब जीवात्मा विद्युत् लोक में पहुँचता है, तब एक अतिमानव अस्तित्व इसका स्वागत करता है (वह कौन है ? इस विषय में उपनिषद् मौन हैं) तथा उसे अन्तिम चार उच्चतर लोकों (वरुण, इन्द्र, प्रजापति और ब्रह्म लोक) तक ले जाता है। उपर्युक्त सोपानों को समझना कठिन है। सम्भवतः वे अस्तित्व के विभिन्न सापेक्ष स्तरों में महत् सत्ता के प्रकटीकरण की श्रेणियाँ हैं।

जो जीवात्मा ब्रह्मलोक में पहुँचने के योग्य नहीं है तथा अपने कर्मफल के अनुरूप पितृलोक तक ही पहुँच सकता है; वह क्रम से धूम्र, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, आकाश (वर्ष नहीं) तथा चन्द्रलोक के देवताओं तक उर्ध्वगमन करता है। वहाँ से जीवात्मा आकाश, धूम्र, कोहरा, मेघ तथा वर्षा के क्षेत्रों से होता हुआ लौटता है तथा अन्न, औषधि (जड़ी-बूटी), वृक्षादि में प्रवेश करता है। इन अन्न, औषधियों आदि का सेवन घरती के जीवों द्वारा किया जाता है।

उपनिषदों के अनुसार किसी व्यक्ति का भविष्य उसके कर्मों द्वारा निर्धारित होता है। उसके कर्मों का निर्धारण उसकी इच्छा-शक्ति द्वारा तथा इच्छा-शक्ति का उसकी कामनाओं द्वारा होता

है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि व्यक्ति का भविष्य उसकी कामनाओं द्वारा ही निर्धारित होता है। अज्ञानी जीवात्माएँ सब प्रकार के सुखों से रहित अन्धकारमय लोकों में पहुँचती हैं। आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ अज्ञानीजन की आत्माएँ सूर्य से रहित अन्धकारमय लोकों में जाती हैं। सत्कर्म करने वाली जीवात्माएँ उच्चतर योनियों में जन्म लेती रहती हैं। दुष्कर्म करने वाली जीवात्माएँ पशुओं या भ्रष्ट चरित्र वाले व्यक्तियों के गर्भ में प्रविष्ट होती हैं। अतः कर्म ही मानव का भविष्य निर्धारित करता है; किन्तु जैसा कहा जा चुका है, जो आत्मसाक्षात्कार के कारण कर्मों से मुक्त हैं, उनको दोबारा जन्म नहीं लेना पड़ता। उनके प्राणों को उपयुक्त लोकों में नहीं जाना पड़ता। वे धरती पर ही ब्रह्म-पद को प्राप्त होते हैं।

योगाभ्यास

उपनिषद् बाह्याभिमुख इन्द्रियों को आध्यात्मिक अनुभूति के पथ में एक बाधा मानते हैं। योगसाधना के लिए इन्द्रियों को नियन्त्रित करके उन्हें अन्तर्मुख बनाना होता है। जब मन-सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का बुद्धि के साथ सामञ्जस्य हो जाता है और बुद्धि किसी प्रकार के विषयीकरण से बाधित नहीं होती, तभी मानव योग की उच्चतम दशा में स्थित होता है। योग का अर्थ है सर्वाङ्गीण आत्म-नियन्त्रण। यह अवस्था दीर्घकाल तक नहीं रहती अपितु आती-जाती रहती है। अतः योगाभ्यासी साधक को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। योग की कला के सन्दर्भ में प्राचीनतम उपनिषदों का यही उपदेश है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इससे सम्बन्धित विस्तृत चर्चा की

गयी है। उसके अनुसार साधक को योगाभ्यास करते समय स्थिर आसन में बैठना चाहिए। इससे चञ्चल इन्द्रियों तथा मन का निरोध करने में सहायता मिलेगी। यह भी आवश्यक है कि इन्हें—जो बाह्य जगत् के विषयों में फँस कर पथभ्रष्ट हो गये हैं—अन्तःस्थित केन्द्र (विश्वव्यापक ब्रह्मरूप आत्मा) पर पुनः स्थापित किया जाये। जिस प्रकार अड़ियल घोड़ों पर नियन्त्रण पाने के लिए लगातार प्रयत्न करना पड़ता है, उसी प्रकार उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए निरन्तर प्रयास करके विचारों को सही मोड़ देना होता है और प्राणशक्ति को (प्राणायाम द्वारा) नियमित करना होता है। ऐसा करने के लिए पर्याप्त समझ और ऊर्जा की आवश्यकता है और तनिक-सी भी नैतिक कमजोरी योगाभ्यासी को सफलता से कोसों दूर ले जा पटकेगी। पर्याप्त योगाभ्यास हो जाने के पश्चात् ध्यान कभी भी और कहीं भी किया जा सकता है; किन्तु प्रारम्भ की अवस्थाओं में योगाभ्यास के लिए अनुकूल तथा उपयुक्त स्थान का चयन करना लाभप्रद होगा। समतल, पवित्र, बजरी-रहित भूमि जहाँ अग्नि, शोरगुल, मच्छर आदि न हों—योगाभ्यास के लिए उपयुक्त मानी गयी है। यह स्थान मनोरम तथा निर्जन होना चाहिए। वहाँ ऐसी कोई वस्तु नहीं हो जो इन्द्रियों को उत्तेजित करे। जैसे-जैसे साधक का अभ्यास उच्चतर होता जाता है, वैसे-वैसे इस बात की सम्भावना बढ़ती जाती है कि उसे ध्यान में कोहरा, धुआँ, सूर्यप्रकाश, अग्नि, वायु, जुगनू का प्रकाश, बिजली की चमक, स्फटिक, चन्द्रप्रकाश आदि के दृश्य दिखलायी पड़ें। ऐसे दृश्य आध्यात्मिक प्रगति के सूचक हैं। जब मानव ध्यान-प्रक्रिया द्वारा पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश के तत्त्वों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है, तब वह रूग्णता, वृद्धावस्था

तथा मृत्यु के बन्धनों से मुक्त हो जाता है, क्योंकि उसे एक तेजस्वी आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हो जाता है। शारीरिक हलकापन, पूर्ण आरोग्य, निर्लोभता, शारीरिक दीप्ति, कर्णप्रिय स्वर आदि गुणों से उसका व्यक्तित्व सुरभित हो उठता है। योग में सफलता प्राप्त करने का यह प्रथम स्तर है। उच्चतर स्तर इनसे भी ऊपर हैं। उनमें योगी क्रमशः अपनी आत्मा को अजन्मा, शाश्वत, सर्वव्यापक ब्रह्म में मिला देता है। जो उसे जान लेता है वह सर्वप्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

मुक्ति

जो आत्मा पार्थिव अस्तित्व से मुक्त हो जाता है वह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा कारणमय कोशों को पार करता हुआ ब्रह्म-साक्षात्कार करता है और ब्रह्मानन्द में निमग्न हो जाता है। इसी स्थिति में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की एकता का बोध होता है। एक ऐसी स्थिति आती है जब ब्रह्मलीन आत्मा कहने लगता है—मैं ही भोजन एवं भोक्ता हूँ; मैं ही भोजन तथा भोक्ता को खाता हूँ। समग्र ब्रह्माण्ड को मैंने घेर लिया है।

मोक्ष में वैयक्तिकता में आबद्ध समस्त सिद्धान्त और शक्तियाँ मुक्त हो कर अपने स्रोतों या दिव्य सारतत्त्वों में मिल जाती हैं। ये स्रोत या तत्त्व अन्ततः ब्रह्म में मिल जाते हैं। कर्मों समेत समस्त वैयक्तिकता महत् अविनाशी तत्त्व में विलीन हो जाती है। जिस प्रकार सरिताएँ अपने नाम तथा रूप का त्याग करके समुद्र में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार ज्ञाता बन्धनों से मुक्त हो कर मूल तत्त्व में प्रवेश कर जाता है। मोक्ष को प्राप्त आत्मा

उस 'सर्वरूप' तत्त्व में समस्त दिशाओं से प्रवेश करता है तथा स्वयं सर्वरूप हो जाता है ।

युग-चेतना

कुछ विद्वानों का मत है कि उपनिषदों में निराशावादी विचार हैं तथा निराशावादी दृष्टिकोण को जीवन की स्वस्थ प्रवृत्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती । पिछले पृष्ठों में उपनिषदों के आध्यात्मिक जीवन-दर्शन का जो विवरण दिया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आक्षेप सत्य से बहुत दूर है । उपनिषदों के ऋषिगण मानव-जीवन में सर्वत्र दिव्यता और पवित्रता का दर्शन करते थे । इस दर्शन से उत्पन्न पुलक और आनन्द से उनका जीवन ओत-प्रोत था । उन्होंने ही हिन्दुत्व की नींव रखी । वेद-संहिताओं तथा उपनिषदों के भावों में मृत्यु की जड़ता नहीं, वरन् जीवन का स्पन्दन दृष्टिगोचर होता है । उसमें रुग्णता, निराशा और संसार के प्रति ऊब से उत्पन्न क्लान्ति की कालिमा नहीं वरन् प्रसन्नता-सुख-स्वास्थ्य की लालिमा दिखलायी पड़ती है । जीवन के प्रति धार्मिक या दार्शनिक दृष्टिकोण का उद्देश्य कभी भी यह नहीं होता कि प्राणी निराशावादिता के अन्धकार में डूबा रहे ।

उपनिषदों के कुछ लेखांशों (उद्धरणों) में वस्तुओं की नश्वरता, विश्व की क्षणभङ्गुरता तथा मरणशील व्यक्ति के नाशवान् कार्यों द्वारा परमतत्त्व को प्राप्त करने की असम्भवता की चर्चा की गयी है । इन्हीं के कारण उपनिषदों को निराशावादी कह कर उनके प्रति गलत धारणा बना ली गयी है । यदि

निराशावाद का अर्थ अनुभवजन्य ज्ञान की अपर्याप्तता की समझ है; यदि निराशावाद समस्त सांसारिक वस्तुओं की सापेक्षता का बोध कराता है तो समस्त दर्शन निराशावादी कहलायेगा । किन्तु वस्तुओं की सतही समझ से उत्पन्न यह असन्तोष ही ज्ञान का आरम्भ है; क्योंकि ऊपर से जो भासता है वह वास्तविकता नहीं है । उपनिषदों में मानव-चिन्तन की पराकाष्ठा—एक ऐसी ऊँचाई जिस तक चिन्तन की पहुँच पूर्व या उत्तर उपनिषद्-काल में कभी नहीं हो पायी—का दिग्दर्शन होता है । उपनिषद् भारतवर्ष की ही नहीं समस्त विश्व की संस्कृति के गौरवपूर्ण भण्डार हैं ।

तृतीय अध्याय इतिहास एवं पुराण

इतिहास एवं पुराणों का उदय

जिस ब्रह्म का ऋषिगण श्रद्धायुक्त विस्मय की भावना से मनन करते हैं, उसका साक्षात्कार सर्वोत्तम प्रकार के थोड़े से व्यक्ति अथवा उपनिषदों में वर्णित साधनापथ पर चलने की क्षमता रखने वाले कुछ लोग ही कर सकते हैं। किन्तु धर्म को तो ब्रह्मसाक्षात्कार के क्षेत्र से इतर कम महत्त्वपूर्ण स्तरों के व्यक्तियों की भावनात्मक आवश्यकताओं के बारे में भी सोचना है। दर्शन का कोई भी इतिहासकार इस गलत धारणा से मुक्त नहीं हो पाया है कि वेद और उपनिषद् तथा परवर्ती वेदान्त-दर्शन के ग्रन्थों के बाद जो-कुछ भी धार्मिक विवेचन किया गया वह अधिक-से-अधिक जनसाधारण की स्वाभाविक दुर्बलताओं के साथ किया गया एक समझौता है या दूसरे शब्दों में, उन्हें दी गयी एक छूट है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि हिन्दू-धर्म वेदों, उपनिषदों के दिव्य दर्शन तथा बुद्धिप्रधान

वेदान्त की तत्त्वमीमांसा के साथ ही निःशेष हो जाता, तो वर्षों पूर्व ही इसका अन्त हो गया होता तथा वेबीलोन, ग्रीस तथा मिश्र की संस्कृतियों के समान केवल इसकी स्मृति ही शेष रह जाती। हिन्दुओं की विचारधारा की विश्वव्यापकता ही उनके धर्म को विदेशी संस्कृतियों के प्रहारों से बचा पायी है तथा इसी के कारण यह समय के उतार-चढ़ावों के बीच भी सुरक्षित रह पाया है।

भारत का महान् धर्म मात्र बुद्धि और तर्क के क्षेत्रों अथवा केवल अनुभवजन्य आवश्यकताओं तक ही सीमित नहीं है। इसका सम्बन्ध पूरे मानव-समुदाय से है। मानव-आकांक्षाएँ पाश्चात्य या प्राच्य नहीं हुआ करतीं—वे तो समूचे विश्व की होती हैं। विस्मयकारी ब्रह्म तक सेवक, किसान, सैनिक, व्यापारी—सभी की पहुँच होनी चाहिए—इस प्रकार कि उनके बौद्धिक स्तर के अनुरूप वह उनके लिए बोधगम्य हो तथा उनकी प्रतिभा और स्वभाव के लिए व्यावहारिक सिद्ध हो सके। उपनिषदों के अनुसार विशेष अर्हताओं वाले व्यक्तियों के ही लिए ब्रह्म उपगम्य है; परन्तु पुराणों ने सामान्य मानवों के लिए भी ब्रह्म को सुगम बनाया है।

रामायण तथा महाभारत भारतवर्ष के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। महाभारत ग्रन्थ का आधार परम्पराएँ, पौराणिक कथाएँ, इतिहास, दर्शनशास्त्र तथा रहस्यवाद के विभिन्न तत्त्व हैं। रामायण प्रत्यक्ष रूप से एक इतिवृत्त (इतिहास) है जिसमें एक ऐसे आध्यात्मिक महापुरुष के महान् कार्यों का वर्णन किया गया है जो इस धरती पर मानव-समुदाय

के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करने के लिए अवतरित हुआ था। महाभारत में अलौकिक एवं अद्भुत तत्त्वों के आकाश में उड़ान भरी गयी है, परन्तु साथ-ही-साथ मानव-जीवन के लक्ष्य के स्वरूप को बहुत सरल ढङ्ग से प्रतिपादित भी किया गया है। अलंकृत शैली में प्रस्तुत वाल्मीकि कृत रामायण में प्रारम्भ से अन्त तक मानव-हृदय को आन्दोलित करने वाली सामग्री है। इस ग्रन्थ का पठन करने के पश्चात् भावनाओं का उदात्तीकरण हो जाता है तथा मानव-मन अनजाने में ही सञ्जीवित हो कर मानवोचित सहृदयता, भ्रातृ-भाव, पुत्रोचित प्रेम, नियम-पालन, सेवा-भाव, ऋजुता (ईमानदारी), सङ्कल्प-दृढ़ता, असीमित परोपकारिता, सत्य के अटल अनुसरण की भावभूमियों में प्रवेश कर जाता है। दूसरी ओर, महाभारत महर्षि व्यास की प्रतिभा-शाली अन्तर्दृष्टि की सर्वोत्तम उपज है। यह ग्रन्थ भावनाओं एवं संवेगों की एक ऐसी असीमित ऊँचाई तक ले जाता है जहाँ से उन्हें नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों की पूर्णता के शिखर दृष्टिगोचर होते हैं। पाठक ग्रन्थकार के सशक्त विचारों की ऊर्मियों से टकराता हुआ डूबता-उतराता रहता है। वाल्मीकि और व्यास भारतीय संस्कृति के वास्तविक आधार-स्तम्भ हैं। जब तक हिन्दुत्व जीवित रहेगा, इन दोनों महापुरुषों को स्मरण किया जाता रहेगा। रामायण और महाभारत के महान् पात्र — राम, लक्ष्मण, भरत, सीता, हनुमान्, कृष्ण, युधिष्ठिर, भीष्म, अर्जुन, द्रौपदी—भारत में नन्हें से विद्यार्थी के लिए भी आदर्श का पर्याय बन गये हैं। इनका स्मरण करते ही ऐसा प्रतीत होने लगता है कि व्यक्तित्व का प्रत्येक अणु एक असामान्य उच्चता से परिपूरित हो गया है। इन दोनों ग्रन्थों ने भारतीय मानस के समक्ष एक ऐसा शक्तिशाली परन्तु करुणामय भगवान् का सजीव

चि त्र प्रस्तुत किया है जो समस्त जीवों का भाग्यविधाता है तथा उनकी कृपा-दृष्टि से कृतार्थ होने को आतुर मानवों का सहायक है। इन्हीं ग्रन्थों के प्रभाव के कारण युगों-युगों से भारत निर्माण के पथ पर अग्रसर होता रहा है और भारतीय मानस धार्मिकता से सन्तृप्त रहा है। इन्हीं ग्रन्थों ने ब्रह्मसाक्षात्कार को जीवन के लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित करके इस धारणा को जन्म दिया है कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ऋषियों और ईश्वर के अनेकानेक भक्तों से सहायता प्राप्त हो सकती है। ये ग्रन्थ ही हिन्दू-जनों के हृदयों को एक-दूसरे के निकट ला सके हैं। आज भारत एक शक्तिशाली राष्ट्र है और वह इसके अस्तित्व को खतरे में डालने वाले किसी भी विदेशी प्रहार का सामना करने के लिए सक्षम है। इसका कारण यही है कि वाल्मीकि और व्यास के सर्वोत्कृष्ट मस्तिष्कों ने राष्ट्र के रक्त में एक विलक्षण नैतिक साहस भर दिया है। इन दोनों महापुरुषों के विचारों ने भारतीय मानस पर जो प्रभाव डाला है, वह इतना गहन है कि इसका सही-सही मूल्याङ्कन करना असम्भव लगता है। उनका प्रभाव अमिट है; क्योंकि उनकी पहुँच मानव-सत्ता के मूल-तत्त्व तक रही है।

ये दोनों ग्रन्थ कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, तुलसीदास, कम्बन आदि महाकवियों के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। “व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वं”—विश्व के समस्त साहित्य के मूल्यवान् विचार व्यास-वाणी में पाये जाते हैं—इस कथन से पता चलता है कि व्यासकृत उपयुक्त ग्रन्थ की विषय-सामग्री कितनी मूल्यवान् है! महाभारत के अनुसार—“जो-कुछ यहाँ (महाभारत ग्रन्थ में) है, चाहे वह नैतिकता और राजनीति से

सम्बन्धित हो, चाहे मानव-कल्याण तथा आध्यात्मिक मोक्ष से, वह अन्यत्र भी पाया जा सकता है। जो यहाँ नहीं है, उसे कहीं भी नहीं पाया जा सकता।” साधारण हिन्दू जिस धर्म को जानता है और पालन करता है, वह इन महाकाव्यों और पुराणों में ही वर्णित धर्म है। इन्हीं सद्ग्रन्थों ने भारत के राष्ट्रीय चरित्र को आध्यात्मिकता के रङ्ग में रँगा है। भारत का धार्मिक व्यक्ति जिस ईश्वर से प्रार्थना करता है या जिस पर मनन करता है, वह इन्हीं सद्ग्रन्थों का ईश्वर है। भारत का लोकप्रिय धर्म, रूढ़िवादी धार्मिक विशिष्टवर्ग के लोगों का धर्म, जन-जन का धर्म वही धर्म है जिसका इन ग्रन्थों में प्रतिपादन किया गया है। भारत के त्यौहार, उत्सव, अनुष्ठान, रीति-रिवाज, प्रथाओं का मूल स्रोत वाल्मीकि और व्यास के ये दोनों ग्रन्थ ही रहे हैं। यह आश्चर्य की बात है कि इसके बावजूद दर्शन के इतिहासकारों ने, यहाँ तक कि कुछ भारतीय इतिहासकारों ने भी, इन सद्ग्रन्थों का अत्यन्त त्रुटिपूर्ण ढङ्ग से मूल्याङ्कन किया है और कुछ ने तो इनके अस्तित्व तक को नकारा है, मानो धार्मिक साहित्य में वे कूड़ा करकट के समान हों। वस्तुतः भावात्मक विषाद की स्थिति में हतोत्साहित हो कर धार्मिकजन सदैव-सदैव से इन ग्रन्थों से ही प्रेरणा ग्रहण करके सान्त्वना के अमृत-कण प्राप्त करते रहे हैं।

भारतीय संस्कृति के इन दोनों निर्माताओं की महत्ता को देखते हुए सम्भवतः यह मूल्याङ्कन भी पर्याप्त नहीं है। आशा है, दार्शनिक और धार्मिक इतिहास के विद्यार्थी इन महाकाव्यों के सागर में पुनः प्रवेश करके इनमें निहित बहुमूल्य विचारों के अन्याधिक मोती ढूँढ कर लायेंगे। इन महाकाव्यों के आश्रय

को समझो बिना भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को समझ पाना कठिन है। महाभारत में कहा गया है—वेद उन व्यक्तियों से भयभीत रहते हैं जिन्होंने इन महाकाव्यों और पुराणों का अध्ययन नहीं किया है। वेदों में जो सत्य है उसी को इन महाकाव्यों में प्रस्तुत किया गया है। इस सत्य की अनभिज्ञता से वे (व्यक्ति) इन वेदों पर सचमुच ही मारक प्रहार करेंगे।

शिक्षण-विधियों के रूप में इतिहास तथा प्रतीकशास्त्र

महाकाव्यों में विषय का प्रतिपादन जिस ढङ्ग से किया गया है वैसे वेद-संहिताओं और उपनिषदों में नहीं पाया जाता। वेद-उपनिषदों में परम सत्य अथवा परम तत्त्व की बात सीधे कह कर उसका समर्थन ब्रह्माण्ड-व्यापी एकता का रहस्योद्घाटन करके किया जाता है। इस प्रकार पाठक की बुद्धि पर ठोस तथ्यों के अपरोक्ष निरूपण का भार सीधा ही डाल कर विचारों का सम्प्रेषण किया जाता है। महाकाव्य और पुराणों के ग्रन्थकार यह भलीभाँति जानते थे कि विचार-सम्प्रेषण की यह विधि जनसाधारण के लिए उपयुक्त नहीं है। अतः उन्होंने एक ऐसी विधि अपनायी जो सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य थी। मन की यह प्रवृत्ति है कि वह सुन्दरता को प्रेम करता है, चमत्कार के प्रति श्रद्धा रखता है, रहस्य से भय खाता है तथा शौर्य का अनुकरण करता है। विद्वज्जन तथा दार्शनिक प्रकृति के व्यक्तियों में भी प्रेम और सहानुभूति की भावनाएँ रहती हैं। न्याय का आदर्श उन्हें भी प्रिय रहता है। उच्च कोटि के तत्त्व-मीमांसक भी मानवीय पक्षों से अछूते नहीं रहते।

मानवीय व्यक्तित्व के इस पहलू को समझना थोड़ा कठिन है; परन्तु जो इसे नहीं समझता वही अपने सामाजिक जीवन में असफल रहता है। मानव-मन को सदैव विविधता प्रिय है। एकरसता उसे भाती नहीं। यदि वह प्रेम करता है तो घृणा भी करता है। वह पूर्वाग्रहों के घेरे में भी फँसता है। यहाँ तक कि वह कट्टर धर्मान्ध तथा दुराग्रही भी बन जाता है। इतने विलक्षण सङ्घटकों का मिश्रण है यह मन। वेद और उपनिषदों में मन की इस विलक्षणता का ध्यान नहीं रखा गया है। मानव अपने वास्तविक स्वरूप में जैसा भी है, उसे अपने दैनिक जीवन में मित्र, दार्शनिक तथा मार्गदर्शक की आवश्यकता पड़ती ही है। इस आवश्यकता की पूर्ति ये दोनों महाकाव्य भलीभाँति करते हैं।

ये महाकाव्य हतोत्साहित मानवता के लिए प्रेरणास्रोत रहे हैं। उन अपराजेय राम के बारे में सोचिए—सत्य और न्याय के जो आदर्श थे, दुष्टता के लिए जो वज्र के समान थे, सरल और निश्छल व्यक्तियों के लिए जो सान्त्वना के स्रोत थे, शरणागत शत्रु के लिए जो क्षमा के साक्षात् विग्रह थे, अपने चरित्र-बल से जो प्रत्येक मानव के हृदय में भक्ति, श्रद्धा और भय—ये तीनों प्रकार के भाव एक साथ उत्पन्न करते थे। उन अद्भुत कृष्ण के बारे में विचार कीजिए जो पृथ्वी और स्वर्गलोक में एक ही समय में विचरण करने की क्षमता रखते थे, स्व-कथन मात्र से ही भूप-भूपालों को सत्ता-विहीन कर सकते थे, जो सर्वशक्तिमान् ब्रह्म के ब्रह्माण्डव्यापी स्वरूप को धारण कर सकते थे, परन्तु जिन्होंने युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में पधारने वाले अतिथियों का पद-प्रक्षालन भी किया था, जो उनसे प्रेम-भाव रखने वाली

रूपवती बालाओं को मोहित कर लेते थे, जिन्होंने आँसू बहाती द्रौपदी को सान्त्वना प्रदान की थी, विषादयुक्त आत्मसंशयी अर्जुन में जिन्होंने साहस का सञ्चार किया था, रणभूमि में जिन्होंने भयभीत करने वाले राजाओं को भी आतङ्कित कर दिया था, जो दर्शन के गहनतम तथ्य उद्घाटित कर सकते थे, शूरवीर सैनिक की तरह युद्ध कर सकते थे, ध्यानस्थ योगियों को दिव्य दर्शन दे सकते थे, मात्र दृष्टिपात करके कौरवों की समूची सेना को सम्मोहित कर सकते थे, ब्रह्मा और रुद्र से मित्रवत् व्यवहार कर सकते थे, परन्तु जो महाभारत के युद्ध में अर्जुन के रथ के सारथि भी बने थे, जो सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता के दिव्य स्रोत थे, जो सर्वोत्तम योगाचार्य थे और जो प्रेम के केन्द्र-बिन्दु और कर्मठता के जीवन्त उदाहरण थे। उनका व्यक्तित्व लौकिकता और अलौकिकता के सम्मिश्रण से पूर्ण बन गया था। व्यास ने कृष्ण का जो अद्भुत विवरण प्रस्तुत किया है वह पाठकों को आनन्दातिरेक की ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है जिसे तनिक भी अधिक गहरायी से मनन करने से सम्भवतः उनके भौतिक शरीर झेल न सकें। गुधिष्ठिर और उनके सदाचार पर मनन कीजिए—जब भरी सभा में द्रौपदी का अपमान हुआ था तो कौरवों की नीचता और ढिठाई को उन्होंने किस प्रकार सहन किया था, जिन्होंने दुष्ट दुर्योधन को भी गन्धर्व चित्रसेन के बन्धन से मुक्त करवा दिया था, वनवास की अवधि में शत्रुओं का सामना करने के लिए शस्त्र धारण करने हेतु भाइयों के उत्तेजित करने पर भी जिन्होंने अपने असीम धैर्य का परिचय दिया था, अपनी सुध-बुध के बल पर ही जो निर्भीकता से कौरवों की सेना के बीच गुरुजनों का आशीर्वाद प्राप्त करने पहुँच गये थे, जिन्होंने यक्ष के चंगुल में फँसे अपने चारों भाइयों में अपने सगे पराक्रमी

भाइयों के स्थान पर अपने सौतेले भाई की प्राण-रक्षा के लिए उनसे (यक्ष से) प्रार्थना की थी, जिन्होंने स्वर्गारोहण के समय एक वफादर कुत्ते—जिसने पूरी यात्राभर उनका साथ दिया था—को छोड़ कर स्वर्ग में जाना पसन्द नहीं किया था। कौन ऐसा होगा जो आँखों में आँसू लाये बिना युधिष्ठिर का स्मरण कर सके ! अर्जुन की दक्षता, भीम की शक्ति, हनुमान् की वीरता, द्रौपदी के दुःख, सीता के सङ्कट, दमयन्ती की दुर्दशा, लक्ष्मण के साहस, भरत के त्याग, भीष्म की महत्ता, वसिष्ठ के दिव्य गौरव पर भी विचार कीजिए। जिनके प्रभाव से धरती के अत्यन्त प्रभावशाली अस्त्र-शस्त्र भी निष्फल हो गये थे। व्यास की विद्वत्ता, शुक के ब्रह्मसाक्षात्कार और दिव्य नर-नारायण के गौरव को भी क्या कोई भुला सकता है ! इन महापुरुषों का जीवन-चरित्र पढ़ते समय कौन ऐसा होगा जो उच्च जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा तथा आश्चर्य, पुलक, प्रेम, आतङ्क की भावनाओं से ओतप्रोत न हो जाये ! ये उदाहरण इन महाकाव्यों में भरे-पड़े उन अगणित अविस्मरणीय उपदेशों में से चुन कर लिये गये हैं जो मानवता से दिव्यता की ओर की ऊर्ध्वमुखी यात्रा में मानव का पथप्रदर्शन करते हैं तथा उसके लिए अमूल्य पैतृक सम्पत्ति के समान हैं।

इन बहुमूल्य उपदेशों के अतिरिक्त इन महाकाव्यों में ब्रह्माण्ड-व्यापी महत् शक्तियों के क्रियाकलापों का प्रतीकात्मक वर्णन भी है। ये शक्तियाँ मानव-व्यक्तित्व के अन्दर और बाहर-दोनों ओर क्रियाशील रहती हैं। यह प्रक्रिया ब्रह्माण्ड का मूल स्वभाव है। वन में विचरते हुए राम संसार में भटकती जीवात्मा के प्रतीक हैं। उनकी धर्मपत्नी सीता मन हैं जो राम-रूपी जीवात्मा को स्वर्ग-

मृग-रूपी ऐन्द्रिक विषयों के पीछे भागने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। लक्ष्मण विवेक-शक्ति और पौरुष के प्रतीक हैं। सीता-रूपी इच्छा-लोलुप मन लक्ष्मण-रूपी विवेक को अपमानित करता है और स्थिति को ठीक से न समझ पाने के कारण उसे (विवेक को) अपने पास से जाने के लिए बाध्य करता है। रावण के दश शिर दश इन्द्रियों के प्रतीक हैं। समस्त इन्द्रियाँ मिल कर सीता-रूपी मन का अपहरण करती हैं और राम—जीवात्मा—बिलकुल अकेले रह जाते हैं तथा जीवन के अरण्य में अपनी जीवन-सङ्गिनी सीता—मन—को खोजते-फिरते हैं। इस प्रतीकात्मक वर्णन का दूसरा अर्थ यह भी है कि सीता-रूपी जीवात्मा राम-रूपी परम तत्त्व—ब्रह्म से पृथक् हो गयी है। रावण-रूपी मन समस्त इन्द्रियों के सहयोग से सक्रिय है। अशोकवाटिका में बैठी सीता के लिए हनुमान्-रूपी गुरु द्वारा सम्प्रेषित (राम का) शुभ सन्देश जीवात्मा की मुक्ति की सम्भावना का मङ्गलकारी समाचार है। गुरु की अन्तर्दृष्टि की शक्ति मन के अन्धकार को दूर कर देती है और अज्ञान-निद्रा की अवस्था में पड़े जीव को झकझोर कर जगा देती है। अपनी दहला देने वाली शक्ति द्वारा हनुमान् ने राक्षसों का दर्प-नाश करने के लिए विध्वंसलीला की ओर अकेले ही उनका सामना किया। उपयुक्त तथ्य का यह प्रतीकात्मक वर्णन है। इस वर्णन में सीता-राम का मिलन जीव तथा ब्रह्म का मिलन है जो अज्ञान-नाश के बाद ही हो पाता है।

इसी प्रकार महाभारत-ग्रन्थ भी विश्व में चल रही लीला का बहुत बड़ा प्रतीक है। दुष्टता के प्रतीक कौरव पाण्डव-रूपी उत्तमता (भलाई) को अपने देश से निर्वासित कर देते हैं। ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में दुष्टता की विजय हुई है। इस संसार में

उत्तमता या भलाई का कोई साथ नहीं देता और दुष्टता बलवती बन कर उसे अपमानित करती है। सञ्चरित्रता-तथा सदाचार के प्रतीक पाण्डवों को पराजित और क्षुब्ध हो कर अपना राज्य छोड़ कर जङ्गलों में निवास करने के लिए प्रस्थान करना पड़ता है। वन-प्रवास-काल में मुद्दीभर भले व्यक्तियों का सहयोग उन्हें मिलता है। उत्तमता (सदाचार) को विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। प्रारम्भिक अवस्था में उसे ईश्वर से भी सहायता नहीं मिलती। कृष्ण सुदूर किसी स्थान पर बहुत व्यस्त हैं, पाण्डवों के सङ्कट से नितान्त अनभिज्ञ। इसी बीच वचन-भङ्ग करने का प्रलोभन भी सामने आता है। अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव तथा द्रौपदी युधिष्ठिर को परामर्श देते हैं कि वनवास की अवधि पूरी होने से पहले ही कौरवों से प्रतिशोध लेना चाहिए। धर्माचरण और सदाचार के प्रतीक दूरदर्शी युधिष्ठिर भलीभाँति समझते हैं कि यह उचित नहीं है। दुःखों और कष्टों की अग्निपरीक्षा का अन्त होता है। उत्तमता को शुभ प्रतिफल प्राप्त होता है। शस्त्र-धारी सेना पाण्डवों की सहायक बनती है। उत्तमता के भाग्य की डोर कृष्ण के रूप में स्वयं ईश्वर अपने हाथों में ले लेते हैं। दुष्टता के साथ युद्ध प्रारम्भ हो जाता है।

महाभारत के युद्ध में अर्जुन के रथ के सारथि कृष्ण हैं। कठोपनिषद् में भी रथ-रथी-सारथि का रूपक है। जीवन-संग्राम में जो मार्गदर्शक सिद्धान्त है अथवा जो मानव की सर्वोत्कृष्ट बुद्धि है, वही सारथि है। अर्जुन जीवात्मा है। अश्व इन्द्रियाँ हैं। शरीर रथ है। मन लगाम है। ऐन्द्रिक विषय रथ का मार्ग तथा वे दिशाएँ हैं जिनकी ओर रथ बढ़ता है। दुष्टता के साथ

छिड़े महाभारत युद्धमें कन. केवल... दुर्योधन की घोर दुष्टता का वरन् परिवर्तित होती हुई चरित्रस्थितियों की सूक्ष्मता से देखकर भीष्म का असमीचीन रुढ़िवाद और परम्परा के प्रति मोह का, द्रोण के व्यक्तित्व में पायी जाने वाली ज्ञान-शक्ति की अन्याय के साथ साँठ-गाँठ का तथा कर्ण के चरित्र में परिलक्षित कुसङ्ग के कारण दूषित चरित्र और योग्यता का भी सामना करना पड़ता है ।

समस्त ब्रह्माण्ड के भाग्य के नियन्ता ईश्वर की अपनी अलग योजना है जिसके अनुसार योगाचार्य कृष्ण (भगवद्गीता में वर्णित) अपने सदुपदेशों द्वारा भ्रमित जीवात्मा (अर्जुन) को जाग्रत करते हैं और अपने विश्वरूप के माध्यम से उसमें उत्साह का सञ्चार करते हैं । साथ ही, दुष्टता का विनाश तथा धर्म को संस्थापित करने का कार्य भी स्वयं ही करते हैं । जीवात्मा उनका उपकरण मात्र बन कर रह जाता है । शरीर-रूपी रथ में जब तक ईश्वर उपस्थित रहता है, यह क्रियाशील रहता है । जैसे ही कृष्ण अर्जुन के रथ से उतरते हैं, रथ राख की ढेरी बन जाता है । जब जीव में वास्तविक आत्मसमर्पण का भाव उत्पन्न होता है तब ईश्वर स्वयं उसकी चिन्ता करते हैं । आवश्यकता पड़ने पर कृष्ण भीष्म से युद्ध करने के लिए शस्त्र उठा लेते हैं । जयद्रथ-बध के प्रसङ्ग में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीव की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए ईश्वर स्वयं तत्पर रहते हैं ।

धर्म गणित के नियमों के समान अपरिवर्तनीय नहीं हैं । यह एक जीवन्त, ओजस्वी, परिवर्तनीय, नियन्त्रक शक्ति है ।

धर्म का यह स्वरूप कर्ण की पराजय में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। जब शरीर के भयानक रोगों द्वारा नष्ट हो जाने की आशङ्का हो, तब शल्यचिकित्सक को उस पर चाकू चलाना ही पड़ता है। चाहे कोई पूजनीय भीष्म ही क्यों न हो, राजोचित सम्मान प्राप्त करने की पात्रता रखने वाला दुर्योधन ही क्यों न हो, यदि वह सृष्टि की दैवी व्यवस्था में बाधा उत्पन्न करता है तो उसका दमन किया ही जाना चाहिए।

महाकाव्यों के प्रतीकों के उपयुक्त वर्णन का तात्पर्य यह नहीं है कि वे मात्र प्रतीक हैं और उनमें सत्यता नहीं है। कुछ विचारकों की धारणा है कि ये महाकाव्य किसी चतुर मस्तिष्क के कुचक्र हैं और इनका ऐतिहासिक सत्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह दृष्टिकोण अतिवादी है तथा सत्य सदैव मध्यम मार्ग में ही उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों के कुछ कम महत्त्वपूर्ण उपाख्यान सम्भवतः पुरानी अनुश्रुतियों या परम्पराओं से विकसित हुए होंगे, परन्तु इन ग्रन्थों के ऐतिहासिक पात्रों के अस्तित्व को सन्देह की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए। सम्भवतः कुछ लेखक इस संसार में आध्यात्मिक या दिव्य जीवन की निष्फलता को प्रमाणित करने की उत्सुकता में राम और कृष्ण को मात्र कवियों की कल्पना की उपज कह कर उनको पदावनत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। कृष्ण के युग में भी कम-से-कम एक ऐसा व्यक्ति था जिसने उनके अस्तित्व को ही नकार दिया था।

इतिहास और तत्त्वमीमांसा

आइए, विषय से हट कर इतिहास और प्रतीक के अर्थों पर थोड़ा विचार करें और इस पर भी सोचें कि इन दोनों महाकाव्यों के पात्रों की तथाकथित अ-ऐतिहासिकता से इनके (महाकाव्यों के) मुख्य उद्देश्य किस प्रकार अप्रभावित रहते हैं। यह धारणा गलत है कि अ-ऐतिहासिकता का अर्थ अस्तित्व का न होना है। इतिहास के प्रति गलत दृष्टिकोण रखने के कारण ही इस गलत धारणा को प्रश्रय मिला है। घटनाओं या पदार्थों का सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में ऐतिहासिक या वैयक्तिक महत्त्व है, इस बात को स्वीकार करने के साथ-साथ उन पर एक विश्वव्यापी सन्दर्भ में भी विचार किया जा सकता है।

मानव-मन की आदत है कि वह अनुक्रम में घटित एक के बाद दूसरी घटनाओं पर ही विचार करता है और घटनाओं की इस रेखीय गति को ही इतिहास मान लेता है। इसको हम मन की त्रिविम दृष्टि अथवा विमा परिप्रेक्ष्य (*Three Dimensional Perspective*) कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में हम घटनाओं या वस्तुओं को उनके प्रतिरूपों से असम्बद्ध करके एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में देखते हैं और उनके बीच के आन्तरिक, स्वभावगत या मूलभूत सम्बन्धों (कड़ियों) पर ध्यान नहीं देते। यही शास्त्रीय ऐतिहासिक दृष्टि है। राजनैतिक इतिहास की घटनाओं में परस्पर कोई स्वभावगत सम्बन्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि दिक्काल में घटनाएँ अचानक ही घटित हो जाती हैं और उनके बारे में पहले से कुछ कह सकना कठिन है। लेकिन इतिहास के दार्शनिकों को मालूम है कि यह तथ्य

इतिहास का सत्य नहीं है। इतिहास घटनाओं के कारण-कार्य-सम्बन्ध को महत्त्व देता है जबकि यह सम्बन्ध ब्रह्माण्ड का मात्र आंशिक सत्य है।

आर्थर एडिङ्गटन के अनुसार कारण-कार्य-सम्बन्ध (Causation) तथा कारणत्व (Causality) में अन्तर है। उसके अनुसार कारण-कार्य-सम्बन्ध का अर्थ है कि कारण कार्य का कालिक पूर्ववर्ती होता है। कारणत्व से उसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्माण्ड में घटनाएँ परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं। ह्वाइटहेड भी कहता है कि सत्य एक सञ्चटिक प्रक्रिया की तरह होता है। यहाँ इतिहास की त्रिविम विमा दृष्टि एक विश्वजनीन (Universal) स्थिति के सत्य के आगे घुटने टेक देती है। यद्यपि वैयक्तिकताप्रधान दृष्टिकोण से यह बात मानसेतर (Extra-Mental) लगेगी, परन्तु यह स्वयं चिन्तकों के मूल-भूत स्वभाव में ही निहित है; अतः इस ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। किसी बिन्दु पर मनन करना आवश्यक है—इसका अर्थ यह नहीं है कि यह आवश्यकता हर स्थिति में एक अखण्डनीय सत्य है।

जेम्स जीन के अनुसार—हम यह नहीं कह सकते कि भूतकाल की घटनाओं से ही वर्तमान का निर्माण होता है। भूत और वर्तमान के वस्तुगत अर्थ नहीं हुआ करते, क्योंकि चार आयामों वाले सान्तर्यक (Four-Dimensional Continuum) को भूत, वर्तमान और भविष्य में ठीक-ठीक विभाजित नहीं किया जा सकता। यदि हम यह मानना चाहते हैं कि प्रातिभासिक जगत् की घटनाएँ कारण-कार्य-सम्बन्ध के नियम

से सञ्चालित होती हैं तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ये घटनाएँ उस विश्व के किसी अद्यःस्तर पर निर्धारित की जाती हैं जो इस प्रातिभासिक जगत् की सीमाओं से परे है।

ब्रह्माण्ड एक संयुक्त (सम्बद्ध) प्रक्रिया है। यह अन्तरिक्ष में लटके हुए पृथक्-पृथक् पदार्थों का समूह नहीं है। किसी विशेष घटना या पदार्थ को किसी दूसरी विशेष घटना या पदार्थ का कारण नहीं माना जा सकता। ब्रह्माण्ड की अखण्ड प्रक्रिया में प्रत्येक भाग दूसरे भाग में व्याप्त है; अतः प्रत्येक वस्तु कारण और कार्य दोनों ही है। प्रत्येक घटना एक विश्वव्यापी स्थिति का प्रतिबिम्ब है तथा सम्पूर्ण इकाई से पृथक् किया हुआ कोई भाग नहीं है। घटनाओं के अविभाज्य चैतन्य (जो पदार्थों की सत्ता और अन्तर्वस्तु है तथा जो उनका साक्षी भी है) के निष्कर्षों पर जब हम वैयक्तिक दृष्टिकोण से विचार करते हैं, तभी घटनाओं के कारण-कार्य-सम्बन्धों की प्रतीति होती है। अटूट सान्त्वत्यक के रूप में इस विश्वव्यापक सिद्धान्त का कार्य (जब यह व्यक्तियों में अव्यक्त होता है) कारण-कार्य-सम्बन्ध के नियम के रूप में दिखलायी पड़ता है। इस पदार्थमय जगत् में परम तत्त्व की आत्माभिव्यक्ति के कारण पदार्थों में एक जीवन्त सम्बन्ध दीखता है जो कारण-कार्य-सम्बन्ध के रूप में प्रकट होता प्रतीत होता है। अनुभवजन्य जगत् में तो कारण-कार्य-सम्बन्ध का कोई अर्थ है, परन्तु परम तत्त्व के लिए यह सम्बन्ध अर्थहीन है। हमारी यन्त्रवादी इन्द्रियाँ ब्रह्माण्ड के इस अप्रकट उद्देश्य को नहीं समझ सकतीं, यद्यपि इसी लक्ष्य की ओर ही (इस उद्देश्य को समझने हेतु) क्रमविकास की समस्त प्रक्रियाएँ गतिशील हैं।

योगवासिष्ठ में वर्णित लीला और पद्मा की कथा से इस सत्य का पता चलता है कि एक ही घटना कई तिथियों में, कई स्थानों पर घटित हो सकती है। प्रत्येक घटना एक विश्वव्यापक घटना है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए वह युक्तियुक्त है। भूत, वर्तमान तथा भविष्य का निरपेक्ष रूप से निर्धारण नहीं किया जा सकता (अर्थात् उनकी सर्वस्थानों और समस्त काल-खण्डों में अपरिवर्तनीय रहने वाली निश्चित सीमा-रेखाएँ नहीं होतीं)। एक ही घटना के विभिन्न दिक्कालों में नितान्त भिन्न सन्दर्भों में विभिन्न अर्थ या महत्त्व हो सकते हैं। एक के लिए जो भूत है, दूसरे के लिए भी भूत हो, यह आवश्यक नहीं है। यही बात वर्तमान और भविष्य पर भी लागू होती है। किसी भी निश्चित समय में घटित होने वाली कोई स्वतन्त्र घटना भूत, वर्तमान या भविष्य की किस श्रेणी के अन्तर्गत है, इसका निर्धारण इस बात से होगा कि किस दिक्काल के सन्दर्भ में उस पर विचार किया जा रहा है।

ब्रह्माण्ड की नियन्ता परम सत्ता के दृष्टिकोण से कोई भी घटना एक ऐसी विश्वव्यापक प्रक्रिया है जो उस चेतना से अविच्छेद्य है जिसकी परिधि के अन्तर्गत वह घटना घटित हो रही है। दिक्काल स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह दो या दो से अधिक घटनाओं के बीच सम्बन्ध जोड़ता है। दिक्काल का यह जगत् (जिसमें हम सब रह रहे हैं) ही एकमात्र सम्भव जगत् नहीं है। विभिन्न सन्दर्भों तथा चेतना के विभिन्न रूपों के अनुसार विभिन्न दिक्कालों वाले विभिन्न जगत् हो सकते हैं। संसार के इतिहास को अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। आलोचनात्मक विश्लेषण करने पर वस्तुओं के

ऐतिहासिक अस्तित्वों की वास्तविकता उसी प्रकार लुप्त हो जाती है जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में कोहरा ।

जिसे हम इतिहास कहते हैं, वह तथाकथित ऐतिहासिकता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है । किसी ऐतिहासिक पात्र के बारे में स्थूल रूप से इतना ही सोच लिया जाता है कि वह ऐसा व्यक्ति होगा जिसे उसके काल में भौतिक चक्षुओं से देखा जा सकता होगा । जिसे कभी नहीं देखा गया हो, उसका अस्तित्व अविश्वसनीय माना जायेगा । आज कोई व्यक्ति यह कहने को तैयार नहीं है कि उसने अपनी आँखों से राम या कृष्ण को देखा है, इसलिए हम उनकी वास्तविकता पर सन्देह करने लगे हैं । जिस वस्तु को सत्ता को हम प्रयोगाश्रित या अनुभवजन्य विधियों से तत्काल प्रमाणित नहीं कर सकते, हम उस पर विश्वास ही नहीं करते । तथाकथित ऐतिहासिकता की धारणा से हम इस सीमा तक प्रभावित हैं कि हम यह भूल जाते हैं कि एक निश्चित काल-खण्ड में अनुक्रम से एक के बाद दूसरी घटित होने वाली घटनाएँ ही इतिहास नहीं हैं । ऐन्द्रिक सीमाओं से परे की स्थितियाँ और वास्तविकताएँ भी इतिहास बन सकती हैं ।

क्या ईश्वर एक ऐतिहासिक व्यक्ति है ? उसके अस्तित्व पर शायद इसीलिए सन्देह किया जाता है कि उसे अनुभवाश्रित इतिहास की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता । क्या विश्व या ब्रह्माण्ड ऐतिहासिक सत्ताएँ हैं ? आधुनिक सापेक्षवाद के सिद्धान्त के निष्कर्षों तथा एडिगटन और ह्लाइटहेड जैसे विचारकों द्वारा प्रस्तुत इस सिद्धान्त की दार्शनिक व्याख्याओं ने विश्व में पायी जाने वाली वस्तुओं—जैसे स्थान, स्थूल वस्तुएँ आदि—की अल्प-

कालिक ऐतिहासिकता की घञ्जियाँ उड़ा दी हैं। ऐसी स्थिति में रामायण और महाभारत के पात्रों के ऐतिहासिक अस्तित्व पर सन्देह करते समय हिचकिचाहट का अनुभव वास्तव में होना चाहिए।

वाल्मीकि और व्यास का ज्ञान-क्षेत्र इतिहास की अनुभवाश्रित दृष्टि की सीमाओं से कहीं आगे है। उन्होंने ब्रह्माण्ड को परम सत्य की दृष्टि से देखा। ऋषि-मुनियों ने ब्रह्माण्ड का जो इतिहास प्रस्तुत किया है, वह अदीक्षित मानव-मन की समझ से परे है। इस इतिहास के निहितार्थ को समझना एक सामान्य व्यक्ति के लिए उतना ही कठिन है जितना माध्यमिक कक्षा के विज्ञान के विद्यार्थी के लिए आइंस्टीन के सिद्धान्तों को स्वयं पढ़ कर समझना। जो ब्रह्माण्ड-व्यापक परिप्रेक्ष्य में घटनाओं पर विचार नहीं कर सकता, वह इन महाकाव्यों (जिनमें उपनिषदों में उद्धाटित परम तत्त्व की यथार्थता के बाह्य अर्थों की उद्घोषणा है) में निहित सत्यता को भलीभाँति नहीं समझ सकता।

किसी वस्तु का इतिहास यह नहीं है कि किसी विशेष स्थान पर उस (वस्तु) के साथ क्या बीती, वरन् यह है कि समग्र सृष्टि में उसका क्या स्थान है? हमारी सत्ता किसी विशेष स्थान या देश में ही नहीं है। हमारी सत्ता ब्रह्माण्ड में है। हम दर्शक हैं या तीर्थयात्री हैं, विदेशी नागरिक हैं या अमुक, स्वभाव, गुण या चरित्र वाले हैं—यह सब हमारे व्यक्तित्व का वर्णन है; परन्तु हम इन सबके अतिरिक्त और कुछ भी हैं। ब्रह्माण्ड में हमारा जो स्थान है, वही हमारा वास्तविक स्थान है। किसी व्यक्ति का अध्ययन करने के लिए हमें ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी यही दृष्टिकोण

अपनाना होगा अन्यथा हमारा अध्ययन पूर्ण और विश्वसनीय नहीं रह पायेगा ।

वास्तविक अर्थों में जो ऐतिहासिक अध्ययन करता है वह व्यक्तियों, वस्तुओं या परिस्थितियों को टुकड़ों में विभाजित करके और प्रत्येक टुकड़े को स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में स्वीकार करके उन पर विचार नहीं करता । व्यास जैसे मनीषियों के दृष्टिकोण से किसी व्यक्ति के जीवन-चरित्र में केवल शरीर के समाजशास्त्रीय अस्तित्व का ही नहीं वरन् शरीर, मन और आत्मा—तीनों का वर्णन होता है । जिस प्रकार हमने अपने सामाजिक सम्बन्धों की परिधि में सारे राष्ट्रों को घेर लिया है, उसी प्रकार हमारी जीवात्माओं की पहुँच अस्तित्व के समस्त स्तरों तक है । यह इतिहास की व्यापक दृष्टि है । क्या कृष्ण का अस्तित्व था ?—इस प्रकार के प्रश्न इस दृष्टि से विचार करने पर नहीं उठ सकते । जब सृष्टि के समग्र परिप्रेक्ष्य में इस (सृष्टि) पर विचार किया जाता है, तब इसके अन्तर्गत समस्त वस्तुएँ ऐतिहासिक वास्तविकता बन जाती हैं ।

योरप तथा भारत का इतिहास पढ़ते समय हमारा जो दृष्टिकोण रहता है, उससे नितान्त भिन्न दृष्टिकोण से हमें ब्रह्माण्ड के इतिहास का अध्ययन करना पड़ता है । किसी कवि का कथन है कि जिस प्रकार अन्तरिक्ष के तारकों की व्यवस्था में व्यवधान डाले बिना हम एक पुष्प का स्पर्श तक नहीं कर सकते, उसी प्रकार किसी व्यक्ति की वास्तविकता का मूल्याङ्कन हम तब तक नहीं कर सकते जब तक हम व्यापक दृष्टि से इस पर विचार न करें कि सृष्टि में उसका स्थान क्या है ? यह बात मानव-प्राणियों पर ही नहीं संसार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु पर भी लागू होती है ।

यही इतिहास का आन्तरिक सत्य है। व्यक्ति की वास्तविकता समझने के लिए केवल यही दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त और कोई वस्तु महाभारत और रामायण के मुख्य पात्रों के ऐतिहासिक अस्तित्व को असत्य सिद्ध नहीं कर सकती—भले ही सांसारिक इतिहास के प्रति हमारी भौतिक दृष्टि पर आधारित हमारा दृष्टिकोण क्यों न हो। यदि हम इन पात्रों के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकते तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि किसी समय में वे इस धरती पर जन्मे ही नहीं।

पुराण

पुराण वे इतिवृत्त (इतिहास) हैं जिनमें पुरातन इतिहास, मिथकशास्त्र, धार्मिक उपदेश, दर्शन, योग, रहस्यात्मक उपलब्धियों, आध्यात्मिक साक्षात्कार से सम्बन्धित तथा इनसे मिलते-जुलते विषयों पर आधारित सामग्री है।

पुराणों की अधिकतर सामग्री में विष्णु, शिव, देवी, गणेश तथा स्कन्द द्वारा अपने मूल स्वरूपों में अथवा अपनी विभिन्न अभिव्यक्तियों द्वारा किये गये महान् कार्यों का गुणगान किया गया है। ब्रह्मा, सूर्य, वायु का भी पर्याप्त वर्णन किया गया है, यद्यपि वे उपर्युक्त पञ्च देवों से कम महत्त्व के हैं। कुछ अन्य प्रसङ्गों का भी समावेश पुराणों में स्थान-स्थान पर संक्षेप या विस्तार से किया गया है। चिकित्सा-शास्त्र, कला, साहित्य (अलङ्कार)-शास्त्र, साहित्यिक समालोचना, व्याकरणशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, कर्मकाण्ड, जातियों के सामाजिक कानून, वर्णाश्रम, तीर्थयात्रा, धार्मिक प्रतिज्ञाएँ तथा प्रथाएँ,

दातव्य उपहार, साङ्ख्ययोग-दर्शन और वेदान्त के बहुरङ्गे विस्तृत विवरण भी पुराणों की विषय-सामग्री हैं। हृदय को स्पर्श करने वाली भव्य शैली में उन दृढ़-निश्चयी, निर्भीक महा-पुरुषों के वर्णन हैं जो विवेक से परिपूरित विद्वत्ता, पराक्रम, नैतिक कठोरता, भगवद्भक्ति तथा आत्म-त्याग के मूर्तिमान् आदर्श थे। ये वर्णन सर्वव्यापक सत्यता का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं। पुरुषार्थ-चतुष्टय के रूप में मानव-आचरण और कर्त्तव्यों का जो वर्गीकरण पुराणों में किया गया है, वह पुरातन भारत की नीतिदर्शनपरक विचारधारा का प्रतिनिधि तत्त्व है। पुरुषार्थ-चतुष्टय ही धर्मशास्त्रों या स्मृतियों के नियमों-सिद्धान्तों की महत्त्वपूर्ण व्यवस्था का आधार बना है।

पुराणों में वर्णित देवता, ऋषि, राजा, सन्त तथा अपने नैतिक आदर्शों के लिए प्रसिद्ध महापुरुष मानवता के लिए जीवन का निर्माण करने वाली शिक्षा के स्रोत हैं। जहाँ तक पुराणों के पात्रों की ऐतिहासिक सत्यता का प्रश्न है, उन पर भी महाकाव्यों के पात्रों की तरह समग्र सृष्टि के सन्दर्भ में विचार किया जाना चाहिए (कृपया इस अध्याय में देखें पूर्ववर्ती प्रकरण— इतिहास की तत्त्वमीमांसा) क्योंकि वे पात्र महाकाव्यों में मुख्य विषयों के अन्तर्गत इङ्गित विविध प्रसङ्गों के विस्तार ही हैं।

मुख्य पुराण सङ्ख्या में अठारह हैं। इनमें से ब्रह्मा, विष्णु और शिव में प्रत्येक का गुण-गान करने वाले ६-६ पुराण हैं। बीच-बीच में अन्य देवताओं का भी वर्णन है। दार्शनिक गाम्भीर्य, धार्मिक प्रभावोत्पादकता और मुख्य विषय-सामग्री की दृष्टि से विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत मुख्य हैं। श्रीमद्भागवत में साङ्ख्य और वेदान्तदर्शन पर आधारित सृष्टि-रचना; विष्णु

के विभिन्न अवतारों (जो सङ्ख्या में बाईस या चौबीस हैं । इनमें दश मुख्य अवतार भी सम्मिलित हैं); देवताओं और दानवों के वंशों; सृष्टिकर्त्ता की सन्तानों के रूप में क्रम से विभिन्न राजाओं और ऋषियों, ध्रुव, ऋषभदेव, जड़भरत, अजामिल, प्रह्लाद, गजेन्द्र, अम्बरीष, सुदामा जैसे महान् भगवद्भक्तों; साङ्ख्य, योग और वेदान्त से सम्बन्धित दार्शनिक उपदेशों (विशेष रूप से कपिल द्वारा देवहूति को तथा श्रीकृष्ण द्वारा उद्धव को दिये गये उपदेशों); खगोलविज्ञान (गणित ज्योतिष); भूगोल; वर्णाश्रम-धर्म; कल्प; युग तथा चारों प्रकार के प्रलयों के वर्णन हैं ।

भागवत के सर्वाधिक मनोहर तथा प्रभावशाली अध्याय वे हैं जिनमें कृष्ण-चरित्र का वर्णन है । यह वर्णन भारत के अनेक भक्ति-सम्प्रदायों का प्रेरणा-स्रोत रहा है । अपने सार्वजनिक जीवन में योद्धा, राजनीतिज्ञ तथा अध्यापक के रूप में कृष्ण ने जो-जो कार्य किये, उनका वर्णन महाभारत में होने के कारण भागवत के इन अध्यायों में नहीं है (यद्यपि महाभारत की कई घटनाओं का उल्लेख है) । वृन्दावन की गोपियों के साथ की गयी कृष्ण की रासलीला, उनकी बाल-क्रीड़ाएँ (जिनका आध्यात्मिक अर्थ भी है) सबको विस्मित कर देने वाले किशोरावस्था में उनके द्वारा किये गये वीरता और पराक्रम के साहसिक कार्य परवर्ती भक्त कवियों द्वारा रचित साहित्य का आधार हैं । आज भी कृष्ण-भक्तों के मनोभावों को कृष्ण की क्रीड़ाएँ, अद्भुत कार्य और लीलाएँ असीमित रूप से प्रभावित कर रही हैं । पुराणों ने महाकाव्यों की सम्मोहक शक्ति और भव्य छवि को अपने में समाहित कर लिया है । वे वेद-उपनिषदों के सफल प्रतिनिधि हैं ।

चतुर्थ अध्याय भगवद्गीता

सन्दर्भ

महाभारत की मुख्य दार्शनिक विचारधारा भगवद्गीता—
भगवान् का गीत—में निहित है। महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व ही अर्जुन भ्रमवश किङ्कर्तव्यविमूढ़ हो गया। युद्ध करने के लिए वह पहले ही अनिच्छुक था तथा इसके लिए बहुत समझाने-बुझाने पर सहमत हुआ था। एक बार युद्ध करने के कार्य (जो उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरूप ही था) को सम्पन्न करने की स्वीकृति दे देने के बाद पीछे हट जाना मात्र व्यक्तिगत प्रतिष्ठा तथा शिष्टाचार तक ही सीमित रहने वाली बात नहीं थी। यह अपने द्वारा ही स्वीकृत कार्य-क्षेत्र से दूर हट कर सोचने वाली बात थी। मानवीय दुर्बलता ने उस शूरवीर अर्जुनपर विजय पा ली और अर्जुन ने प्रेम-धृणा के पाश में फँस कर कर्मफलासक्ति के आगे घुटने टेक दिये।

अर्जुन की इस मनोदशा ने एक विश्वजनीन प्रश्न को जन्म दिया—इस जगत् में कर्तव्य का स्वरूप क्या है ? युद्ध-क्षेत्र में

घटित हुई इस घटना ने जीवन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या का प्रवेशद्वार खोल दिया। अर्जुन की दुर्गति एक विशेष मानवीय स्थिति का पर्याय बन गयी। अर्जुन की समस्या मानव-जाति की समस्या थी। कृष्ण द्वारा प्रस्तुत इस समस्या का समाधान सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए ईश्वर का सन्देश है।

अर्जुन की इस विलक्षण (मानवीय) समस्या पर कृष्ण की प्रतिक्रिया बड़ी विस्मयकारक थी। भगवद्गीता का प्रारम्भ एक प्रभावशाली नाटकीय स्थिति से होता है। आध्यात्मिक रूप से अन्धे धृतराष्ट्र द्वारा प्रश्न करने के बाद युद्धस्थल पर दुर्योधन का प्रवेश होता है। बढ़ा-चढ़ा कर बातें करने वाले दुर्योधन की गर्वोक्तियाँ इस बात की द्योतक थीं कि उसे अपनी विशाल सेना की गुणात्मक शक्ति पर सन्देह था। उसकी सेना में भीष्म जैसे अपराजेय किन्तु अनिच्छुक योद्धा थे, द्रोण के समान वीर किन्तु चरित्रहीन सैनिक थे और कर्ण के समान विश्वसनीय परन्तु शक्तिहीन मित्र थे। दूसरी ओर पाण्डवों के पक्ष में कृष्ण के समान हार्दिक समर्थक थे और उनके पास उनकी विजय के इच्छुक अनेकानेक देवताओं की शुभ कामनाओं का सम्बल था। भाग्य पाण्डवों की सेना का साथ देता प्रतीत हो रहा था, फिर भी जब अर्जुन ने समझ लिया कि युद्ध में उसके सम्बन्धियों की मृत्यु निश्चित है, विजय प्राप्त होना अनिश्चित है तथा अनगिनत व्यक्तियों के मारे जाने से सामाजिक अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न हो जायेगा, तब शोक-सन्तप्त हो कर उसने कृष्ण की दिव्यता के सम्मुख अपनी दुर्बलताओं को प्रकट कर दिया। जो-कुछ उसने समझ लिया था, वह उसके लिए युद्ध न करने का निर्णय लेने के लिए एक पर्याप्त आधार था। कृष्ण ने अर्जुन को जो उत्तर दिया, वह एक अमर उपदेश बन गया।

आत्मा की अमरता

कृष्ण का उपदेश आत्मा की अमरता तथा अनश्वर तत्त्व की मृत्यु पर शोक करने की व्यर्थता की उद्घोषणा से प्रारम्भ होता है। आत्मा का जन्म-मृत्यु तो पोशाक बदलने के समान है जबकि व्यक्ति का सारतत्त्व इस प्रक्रिया में नितान्त अपरिवर्तित रहता है। दुःख, सुख आदि परिवर्तनों का अनुभव तत्त्वों का (मन और इन्द्रियों के माध्यम से प्रक्षिप्त) मूल चेतना के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप होता है। यह सम्पर्क अस्थायी होता है तथा इसकी प्रतिक्रियाओं को धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। जो वास्तविक नहीं है, उसकी सत्ता नहीं हो सकती। जो वास्तविक है, उसका अनस्तित्व नहीं हो सकता। आत्मा वास्तविक तत्त्व है। सभी प्रकार के सम्पर्क अवास्तविक हैं। अनश्वर आत्मा का नाश नहीं किया जा सकता।

युद्ध-क्षेत्र में सम्बन्धियों के जीवन का अन्त होने की सम्भावना से क्षुब्ध हो कर अर्जुन ने जो तर्क प्रस्तुत किये, उनका उत्तर कृष्ण ने समस्त जीवन के आधारस्वरूप आत्मा की नश्वरता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके दिया। परन्तु कृष्ण का उपदेश केवल इतना ही नहीं है। उसका केन्द्र-बिन्दु ईश्वर की परम तत्त्वता है।

सर्वशक्तिमान् ईश्वर

ईश्वर ही परम सत्ता है। वह ही महत् ब्रह्म है जिसे मान-वीय दृष्टिकोण से न तो सत्ताधारी (सत्) और न अस्तित्वहीन

(असत्) कहा जा सकता है। यह सर्वव्यापी है। इसके हाथ-पैर सर्वत्र हैं; इसकी आँखें, कान, मुख भी सर्वत्र हैं। सभी इन्द्रियों के बोध के लक्षण इसमें हैं, परन्तु ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हैं। बाह्य वस्तुओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, परन्तु यह जगत् की समस्त वस्तुओं का आधार है। यह वर्णनातीत है। परिभाषित करने वाले समस्त विशेषण पदों की सीमाओं से यह परे है, परन्तु यह विशेषणों का भण्डार है। प्रत्येक वस्तु के अन्दर-बाहर होने के कारण यह गतिशील भी है तथा स्थिर भी। यह इतना सूक्ष्म है कि भौतिक चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता। यह असीम है, इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि यह बहुत दूर है; परन्तु यह प्रत्येक प्राणी की आत्मा होने के कारण अत्यन्त निकट भी है।

पृथक्-पृथक् शरीरों में पृथक्-पृथक् ईश्वर की प्रतीति होती है; परन्तु विभिन्न ऊर्मियों के नीचे प्रवाहित होते हुए अविभाजित सागर के समान यह अविभाज्य है। यह प्रत्येक वस्तु को आत्म-सात् कर लेता है तथा प्रत्येक वस्तु को निर्मुक्त करता है। अज्ञान-तिमिर के परे रह कर यह समस्त प्रकाश-पुञ्जों को प्रकाशित करता है। भगवद्गीता में ईश्वर इसी रूप में वर्णित है।

जब परम तत्त्व (ईश्वर) को ब्रह्माण्ड के आधार के रूप में देखा जाता है तो यह सर्वव्यापक विराट् बन जाता है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में इसी ब्रह्माण्ड-व्यापक परम तत्त्व का वर्णन है। नश्वर मानव का अनित्य मन ईश्वरत्व (देवत्व) के इस रूप का मानसिक दर्शन करने के लिए सक्षम नहीं होता; क्योंकि मन अथवा शरीर के विचार और कार्य दिशा-काल की वस्तुनिष्ठ

सीमाओं से आवद्ध होते हैं, जबकि परम तत्त्व दिक्काल से परे होता है। उस परम तत्त्व को समझना (ज्ञानम्), देखना (दृष्टम्) तथा उसमें प्रवेश करना (प्रवेष्टम्) आवश्यक है। जब ऐसा हो जाता है तो वैयक्तिकता का उत्कर्ष हो जाता है। वह व्यक्तित्व के सर्वव्यापक रूपान्तरण के सीमा-क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है।

ईश्वर वस्तुओं का सार्वभौम निर्माता है। वह अपनी ब्रह्माण्ड-व्यापी सृष्टि-योजना के अन्तर्गत घटित होने वाली समस्त घटनाओं का नियन्ता है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह कर्त्ता तथा भोक्ता होने के अभिमान से रहित हो कर ईश्वर का उपकरण मात्र बन कर कर्म करे; क्योंकि उसका जीवन और किसी के नहीं, केवल ईश्वर के अधीन है। इस सत्य का बोध तभी हो पाता है जब आध्यात्मिक दृष्टि (दिव्य चक्षु) का विकास हो जाता है। इन्द्रियों या बुद्धि की सहायता से इसे (सत्य) नहीं समझा जा सकता।

कृष्ण के विराट् रूप को देख कर अर्जुन की अहङ्कारी वैयक्तिकता हवकी-बवकी रह गयी। अर्जुन को लगा कि उसका समूचा अस्तित्व अपनी दिव्य कान्ति से सहस्रों सूर्यों के प्रकाश को मन्द कर देने वाले उस विराट्, प्रदीप्त तथा शाश्वत रूप की चकरा देने वाली ऊँचाइयों में लुप्त हो जायगा। उस रूप का ज्ञान करने से मामूली भाषा गौरवान्वित होती है। उसका वर्णन करते समय कवि की समस्त क्षमताएँ चूक जाती हैं।

कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ ईश्वर विद्यमान न हो। कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसमें वह न हो। उसकी महिमा प्रत्येक ऐसी वस्तु में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है जिससे किसी-न-

किसी रूप में किसी प्रचण्ड शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। उस ईश्वर से जो कोई भी सान्त्वना की याचना करता है, वह कभी दुःख या नाश को प्राप्त नहीं होता। जो व्यक्ति ईश्वर को एकमात्र मान कर मात्र उसी का चिन्तन करता हुआ उसकी शरण में जाता है, उसके ऊपर सदैव ईश्वर का वरदहस्त रहता है तथा उसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है।

ईश्वर मानव से धन-सम्पत्ति की अपेक्षा नहीं रखता। उसे चाहिए केवल मानव की भक्ति और आत्म-समर्पण। इसकी अभिव्यक्ति वह (मानव) मात्र पत्र-पुष्प से भी कर सकता है। ईश्वर का न कोई मित्र है और न कोई शत्रु। उसे व्यक्ति के अच्छे-बुरे कर्मों से भी सरोकार नहीं है।

अखिल ब्रह्माण्डनायक के रूप में कृष्ण घोषित करते हैं—
 “अर्जुन ! मैं ही यज्ञ हूँ। मैं ही आहुति हूँ। मैं ही मन्त्र हूँ। मैं ही कर्मकाण्ड हूँ। मैं ही बलदान हूँ। मैं ही यज्ञ की अग्नि हूँ और मैं ही यज्ञ को अपित की जाने वाली सामग्री हूँ। मैं ब्रह्माण्ड का जनक हूँ। सभी प्राणियों का पितामह तथा माता हूँ। मैं सबका रक्षक हूँ। मैं ही लक्ष्य हूँ, अवलम्ब हूँ, परम सत्ता हूँ, साक्षी हूँ, आश्रय हूँ, मित्र हूँ, मूल तत्त्व हूँ, विध्वंसरूप हूँ, आधार हूँ, भण्डार हूँ, अविनाशी बीज (मूल स्रोत) हूँ। मैं ही सूर्य बन कर उष्णता प्रदान करता हूँ। मैं ही वृष्टि पर नियन्त्रण रखता हूँ। मैं ही अमरता तथा मृत्यु हूँ। मैं ही अस्तित्व हूँ। मैं ही अनस्तित्व हूँ।”

साधक अपनी क्षमताओं और प्रकृति के अनुकूल किसी भी

मार्ग से ईश्वर-प्राप्ति के लिए आगे बढ़ सकता है। ईश्वर का कोई पन्थ नहीं है, कोई सम्प्रदाय नहीं है, कोई धर्म नहीं है। नर-नारी, बाल-वृद्ध, मूर्ख-विद्वान्, ऊँचे और नीचे सामाजिक स्तर वाले व्यक्ति—सभी ईश्वर तक पहुँच सकते हैं, परन्तु पहुँच उन्हीं की होती है जो उसके प्रति अटल प्रेम और निश्चल भक्ति का भाव रखते हैं।

समस्त दुःखों से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय समस्त सांसारिक सहारों को भूल कर ईश्वर के शरणागत होना है। उसके प्रति इस प्रकार की भक्ति रखना सरल नहीं है। अनेक जन्मों तक इसका अभ्यास करना पड़ता है। ईश्वर को सर्वस्व मानने वाले साधक को ढूँढ पाना कठिन है।

ईश्वर का अवतार

जब-जब धर्म की अवनति और अधर्म की उन्नति होती है, तब-तब दुष्टों का नाश करने, सज्जनों की रक्षा करने तथा न्याय (धर्म) की स्थापना करने के लिए ईश्वर धरती पर अवतार लेता है। धर्म-दर्शन में अवतार-वाद विवाद का विषय रहा है। इसी प्रकार ईश्वर-मीमांसा (Theology) के क्षेत्र में भी विचारक अवतारवाद को एक जटिल प्रश्न मानते रहे हैं। मानव-मन को तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से संसार में आध्यात्मिक शक्तियों की गति का दिव्य रहस्य समझ पाना कठिन है। जब भी कोई समाधान खोजने का प्रयत्न किया जाता है, ईश्वर का अवतरण हो जाता है मानो मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए की गयी पुकार का यह ईश्वर की ओर से दिया गया उत्तर हो।

सापेक्ष (जीव) और निरपेक्ष (परम तत्त्व) के बीच एक आन्तरिक अविच्छेद्य सम्बन्ध है। जब केन्द्रापसारी (Centrifugal) मानसिक ऊर्जा—जो समस्त सृष्टि को सम्बोधित भगवान् के सङ्घटित करने वाले, केन्द्राभिमुखी (Centripetal) आवाहन का विरोध करती प्रतीत होती है—के द्वारा इस सम्बन्ध का सामञ्जस्य समाप्त होने लगता है, तब सत्य की शक्ति सापेक्ष जगत् में प्रवेश करने के लिए विवश हो जाती है। इसी शक्ति के प्रभाव के कारण ही ईश्वर का अवतार होता है। अवतार के रूप में ईश्वर का अवरोहण इस उद्देश्य से होता है कि जीव का अपने दिव्य आवास की ओर आरोहण हो सके।

जिस प्रकार शरीर के अन्दर स्वास्थ्यप्रदायक शक्तियाँ रोग-उत्पादक जीव-विषों (Toxins) से सतत सङ्घर्ष करती रहती हैं, उसी प्रकार परम तत्त्व की ब्रह्माण्ड-व्यापक सन्तुलित करने वाली शक्ति एक दोष-निवारक तत्त्व के रूप में विध्वंसकारी शक्तियों के बीच उन पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए प्रवेश कर जाती है। अवतार ईश्वर की एक सतत क्रिया है। वह (ईश्वर) इस जगत् के जीवन की प्रत्येक नाजुक स्थिति और सङ्कटकाल (युगे-युगे) में अपने को व्यक्त कर देता है। ईश्वर का अवतार इस तथ्य का स्मरण कराता रहता है कि आसुरी शक्तियाँ सृष्टि में व्याप्त देवत्व तथा सारभूत अच्छाइयों पर विजय नहीं प्राप्त कर सकतीं।

सम्यक् कर्म का रहस्य

भगवद्गीता कर्मयोग (सम्यक् कर्म का विज्ञान) पर एक शास्त्रीय प्रबन्ध है। कृष्ण अर्जुन को सुख-दुःख, सफलता-विफलता

को समान मानते हुए कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं। उनके अनुसार सम्यक् कर्म के सम्पादन का उद्देश्य उसका फल प्राप्त करना नहीं, वरन् ब्रह्माण्ड के नियमों के साथ सहयोग करना होता है। सम्यक् कर्म का पुण्यफल कभी नष्ट नहीं होता। एक छोटा-सा भी न्यायसङ्गत अथवा धर्म्य कर्म मानव को जीवन के बन्धन में पड़ने से बचा सकता है। ब्रह्माण्डव्यापी आत्मा (ईश्वर) में अपनी चेतनता को प्रतिष्ठित करके चिन्तामुक्त होने पर विचारों में पवित्रता आती है। इस पवित्रता में अपने को केन्द्रित करके उपर्युक्त उद्देश्य से सुख-दुःख, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों से अप्रभावित रहते हुए कर्म करना चाहिए।

व्यक्ति का कर्तव्य केवल कर्म करना है, कर्मफल की आशा नहीं। सम्यक् कर्म करने का रहस्य यह है कि न तो कर्म-फल में आसक्ति होती है और न कर्म-त्याग की प्रवृत्ति होती है। परन्तु कर्म-फल के प्रति आसक्ति न रखने का अर्थ यह नहीं है कि कर्म-सम्पादन के प्रति असावधानी का भाव रहे तथा कर्म के मूल उद्देश्यों का ही विस्मरण हो जाये, अन्यथा यह भी स्वार्थपरता का ही एक रूप होगा। कर्मयोग का अर्थ है मानसिक सन्तुलन तथा कर्म-निष्पादन की कुशलता। कर्म का यह विज्ञान कहीं व्यवहारकुशलता (दुनियाँदारी) या आचरण की चतुरता ही बन कर न रह जाये, इसलिए कृष्ण ने यह भी कहा है कि कर्म-सम्पादन के पीछे कोई परोक्ष या गूढ़ उद्देश्य नहीं होना चाहिए तथा योग की भावभूमि पर रह कर ही कर्म किये जाने चाहिए। योग का अर्थ है समचित्त रहते हुए भागवती-चेतना में संस्थित रहना।

कर्म न करने का प्रयत्न करने से लाभ ही क्या है ? एक क्षण

को भी कोई बिना कर्म किये नहीं रह सकता; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति (जिसका स्वभाव ही अस्तित्व के उच्चतर स्तरों में अधिकाधिक विकसित होने के लिए प्रयत्नशील रहना है) द्वारा कर्म की ओर धकेल दिया जाता है। जबकि मन और इन्द्रियाँ अपने विषयों की खोज में सतत प्रयत्नशील रहती हैं तब, शरीर को कर्महीनता (निष्क्रियता) की स्थिति में रखने का क्या अर्थ है ? मन और इन्द्रियों को पूर्ण नियन्त्रण में रखते हुए विश्व-परिपाटी के अनुकूल बाह्य कर्मों को करते रहना चाहिए। कर्म करने का उद्देश्य किसी स्वार्थ की पूर्ति नहीं वरन् सृष्टि के क्रिया-कलाप में सहयोग देना होता है। समाज सहयोग की ही आधारभूमि पर स्थित है। शरीर भी अङ्गों के पारस्परिक सहयोग के बिना क्रियाशील नहीं रह सकता। संसार पारस्परिक सहयोग का मूर्तरूप है। सौर तथा तारकीय जगत् भी सहयोग पर ही आधारित रहते हैं। अपने समस्त अङ्गों समेत इस ब्रह्माण्ड में सहयोग की एक सर्वतोमुखी प्रक्रिया का ही दृश्य दिखलायी पड़ रहा है। ब्रह्माण्डव्यापी शासन की इस अद्भुत प्रणाली (व्यवस्था) का अर्थ तब समझ में आता है जब हम पुरुष-सूक्त में वर्णित विराट् पुरुष या ईश्वर अथवा गीता के विश्वरूप-दर्शन पर मनन करते हैं।

जो व्यक्ति आत्मरत तथा आत्म-सन्तुष्ट है केवल उसी के ऊपर कर्म करने का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। उसके लिए कुछ भी उपलब्ध करना शेष नहीं रह जाता। वह कुछ करता है या नहीं, इसका कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि वह जगत् की किसी भी वस्तु पर किसी भी प्रकार से निर्भर नहीं रहता। गीता में वर्णित कर्म न करने की यह असाधारण स्थिति अकर्मण्य रहने की

छूट नहीं है। आत्मज्ञानी की तथाकथित कर्महीनता की यह स्थिति कर्म का एक सर्वोच्च रूप है। उसकी यह विशेषता बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि वह किसी भी वस्तु पर किसी भी प्रकार से निर्भर नहीं होता।

सामान्य प्राणियों को संसार की किसी-न-किसी वस्तु पर निर्भर रहना ही पड़ता है। जीवित रहने के लिए उसे समाज पर, सामयिक सहायता प्राप्त करने के लिए अपने सम्बन्धियों पर, अपनी सुरक्षा के लिए सरकार पर और अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए प्रकृति की उदारता पर निर्भर रहना पड़ता है। आत्मरत व्यक्ति की चेतना (Consciousness) मनोगम्य शारीरिक स्थिति नहीं है। उसकी वैयक्तिकता ब्रह्माण्डव्यापी विराट् पुरुष में एकाकार हो जाती है। ब्रह्माण्डव्यापी चेतना के स्तर पर कर्म का कोई अर्थ नहीं रह जाता। परन्तु जो यह समझता है कि उसका अस्तित्व संसार में है, उसके लिए कर्म न करने की छूट नहीं है।

कर्म करने की विधि में ही कर्मनिष्पादन का कौशल छिपा हुआ है। इस विधि के अनुसार बुद्धिमान् पुरुष बाह्य रूप से ही कर्म से अपने को सम्बद्ध रखता है। आन्तरिक रूप से उसे उस कर्म में आसक्त नहीं होना चाहिए, जबकि अज्ञानी व्यक्ति उसमें आसक्त होता है। बुद्धिमान् व्यक्ति को अज्ञानी के त्रुटिपूर्ण कार्यों की निन्दा भी नहीं करनी चाहिए; क्योंकि इस निन्दा से उसको (अज्ञानी को) किसी प्रकार की शिक्षा नहीं मिलती। उलटे वह हतोत्साहित हो जाता है तथा उसका जीवन रसहीन बन जाता है। बुद्धिमान् व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अज्ञानी को प्रोत्साहन

दे तथा उसकी आस्थाओं पर चोट न करे; क्योंकि शैक्षिक प्रक्रिया में समझ के निचले स्तर से ऊपर की ओर उठा जाता है। इस प्रक्रिया में विचार ऊपर से नहीं थोपे जाते। सम्यक् कर्म का मूल भाव स्वार्थपरता से नष्ट हो जाता है। यह स्वार्थपरता क्षोभ, क्रोध और लालच के रूपों में प्रकट होती है। इन मनो-वैज्ञानिक रोगों से मुक्ति ही वास्तविक आद्य आत्मिक स्वास्थ्य है।

वास्तविक कर्म शारीरिक क्रिया नहीं है। यह है कामना-जनित सङ्कल्प-व्यापार। जो इससे मुक्त है, वह कोई कर्म नहीं करता, यद्यपि ऊपरी तौर से ऐसा प्रतीत होता है कि वह कार्यरत है। जो कर्म भागवती-चेतना-रूपी यज्ञ में वैयक्तिकता की आहुति दे देता है, वह नष्ट हो जाता है और कर्त्ता के बन्धन का कारण नहीं बनता। जब साधक को जीवों की विविधता के मूल में एकमात्र परमतत्त्व ही दृष्टिगोचर होने लगता है, तब वह उसी तत्त्व में लीन हो जाता है।

विश्वजनीन धर्म

गीता का धर्म समाज के किसी विशेष वर्ग के सम्प्रदाय या मत से सम्बन्ध नहीं रखता। यह तो सम्पूर्ण मानवता को सम्बोधित एक परम ईश्वर की पुकार है। जो सीमित प्रतीकों के माध्यम से ईश्वर की गलत तरीके से पूजा करते हैं वे भी ईश्वर को प्राप्त हो जाते हैं, यदि उनके आदर्शों में ईश्वरेतर अन्य विचारों का कोई स्थान नहीं है। जब हम अपने आदर्शों का तो मान करते हैं; परन्तु दूसरे के आदर्शों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, तब धर्मन्धता अथवा धर्मोन्माद पनपने लगता है। परन्तु यह ईश्वर को प्राप्त करने का मार्ग नहीं है; क्योंकि इस

प्रकार स्वार्थपरता धार्मिक उपासना के मूल उद्देश्य को ही निरर्थक सिद्ध कर देगी। विश्वजनीन धर्म प्रत्येक धार्मिक मत के अनुयायियों को आश्वासन देता है कि उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति होगी तथा ब्रह्माण्डव्यापी ईश्वर की ही उपासना या उसका साक्षात्कार करने में ही परम मुक्ति का तत्त्व निहित है।

शानदार धार्मिक अनुष्ठानों को आयोजित करने के लिए मूल्यवान् सामग्री को एकत्र करने की आवश्यकता बिलकुल नहीं है; क्योंकि ईश्वर की दृष्टि में अर्जित की हुई सामग्री का नहीं, हृदय के भावों का महत्त्व है। वह मात्र पत्र-मुष्प अर्पित करने या भक्ति-भावना के प्रतीक-रूप थोड़ी मात्रा में ही जलदान (अर्घ) करने से सन्तुष्ट हो जाता है। अतः भवत का कर्त्तव्य है कि वह अपने समस्त कर्मों—चाहे वे शारीरिक हों या मानसिक—को ईश्वरार्पित कर दे। गीता में ईश्वर की घोषणा है कि सभी प्रकार के प्राणियों के साथ उसका व्यवहार समान रहता है। अधम और पापी भी भक्ति के द्वारा उसे प्राप्त कर सकते हैं। एक अमर स्वतन्त्रता का अनुभव कराने के उद्देश्य से मानव और मानवीय धर्म के नाम यह ईश्वर का एक महान् सन्देश है।

योग

गीता के पञ्चम अध्याय के अन्तिम भाग में कहा गया है—
“अभ्रमध्य पर दृष्टि एकाग्र करके; नासिकारन्ध्रों में प्राण और अपान वायु का नियमन करके; इन्द्रियों, मन और बुद्धि को नियन्त्रित करके; कामना, भय और क्रोध से मुक्त हो कर; समस्त बाह्य पदार्थों को बहिष्कृत करके जो मोक्ष को जीवन का परम

लक्ष्य मान लेता है—ऐसा योगी-पुरुष सचमुच ही सदैव के लिए मुक्त हो जाता है ।”

षष्ठ अध्याय उपर्युक्त सूत्रात्मक उपदेश की टीका के समान है । इस सूत्र का विस्तार करते समय यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिसने कामनाओं का त्याग नहीं किया है, वह योगी नहीं बन सकता । ध्यान की स्थिति तक पहुँचने के लिए जिस आत्म-शुद्धि की आवश्यकता होती है, उसकी उपलब्धि कर्मों के माध्यम से होती है । जो योगी बन चुका है, उसका सबसे प्रभावशाली साधन है मानसिक शान्तिरूपी उच्चतर अकर्म । जो ऐन्द्रिक विषयों और कर्मों में आसक्त नहीं है, सङ्कल्प-व्यापारों से मुक्त हो कर जिसके लिए कहीं कोई काम पूरा करना शेष नहीं रह गया है, वही व्यक्ति योग में संस्थित है । मन और इन्द्रियों को पूर्णरूप से नियन्त्रित करके तथा स्व-सम्पत्ति और कामनाओं से मुक्त हो कर योगी किसी एकान्त स्थान पर आत्मा को ही ध्यान का विषय बनाता है ।

किसी स्वच्छ स्थान पर बिछे हुए आसन पर बैठ कर, मन को एकाग्र करके तथा मन के क्रिया-कलापों और इन्द्रियों को अपने वश में करके साधक को आत्मशुद्धि के लिए योगाभ्यास करना चाहिए । योगाभ्यास के समय उसका सम्पूर्ण शरीर स्थिर होना चाहिए । शिर तथा ग्रीवा सीधे हों और दृष्टि अन्तर्मुख हो । ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि दृष्टि नासिकाग्रबिन्दु पर टिकी हुई है । योगी निर्भीक तथा ब्रह्मचर्य-व्रतधारी होता है । वह अपनी साधना में हड़ रहता है । उसे ईश्वर में निवास करने वाली उस शान्ति की प्राप्ति होती है जिसका मोक्ष के साथ तादात्म्य रहता है ।

जो बहुत अधिक या बहुत कम भोजन करता है, जो बहुत अधिक या बहुत कम सोता है, उसके लिए योग के द्वार बन्द हैं। जो मध्य-मार्ग का अनुसरण करते हुए सोते, जागते, खाते, कर्म करते, मनोरञ्जन करते समय मिताचारी की तरह व्यवहार करता है, योग उसी के लिए है। आत्मा का सतत बोध ही योग है। आत्मबोध का अर्थ है कामनाओं से मुक्ति।

योगाभ्यास में रत योगी का मन उसी प्रकार स्थिर रहता है जिस प्रकार हवा न चलने के समय दीपक की लौ स्थिर रहती है। जिस स्थिति में मन को पूर्ण रूप से नियन्त्रित कर लिया जाता है और वह शान्त हो जाता है; जब आत्मा के द्वारा विश्वात्मा का साक्षात्कार कर लिया जाता है और आत्म-नुष्टि की प्राप्ति होती है; जब उस असीमित दिव्यानन्द की प्राप्ति हो जाती है जो अतीन्द्रिय है तथा जिसे केवल महत् (उच्चस्तरीय) बुद्धि के द्वारा ही समझा जा सकता है; जब मन-शरीर स्थिर-शान्त हो जाते हैं; जिसे प्राप्त करके अन्य कुछ भी उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं प्रतीत होता; जब महान् दुःख भी विचलित करने की क्षमता नहीं रखता—वह स्थिति ही योग है जो सर्वप्रकार के क्लेशों से परे है। विषाद, ग्लानि, निराशा से विचलित हुए बिना एक दृढ़ निश्चय के साथ योग का अभ्यास करना चाहिए। जब मन किसी कारणवश निश्चित किये हुए लक्ष्य से हट जाय तो उसे धीरे-धीरे अधीन करके (उसके अपने) विषय से हटा कर, आत्माभिमुख बना लेना चाहिए। यही वह स्थिति होती है जिसमें योगी प्रत्येक वस्तु में विश्वात्मा (ईश्वर) के और विश्वात्मा में प्रत्येक वस्तु के दर्शन करता है।

साधना करने के उत्साह की प्रारम्भिक अवस्था में मन को नियन्त्रित करना जितना सरल लगता है, उतना सरल कार्य यह नहीं है। मन अत्यन्त उपद्रवी, चञ्चल, शक्तिशाली और हठी है। न तो इसे डाँट-फटकार से भयभीत किया जा सकता है और न इसे फुसलाया जा सकता है। मन को नियन्त्रित करना योगी के लिए अत्यन्त कठिन है। वैराग्य और अभ्यास द्वारा हम मन को आत्मा पर केन्द्रित कर सकते हैं। अनुशासनहीन तथा सिद्धान्तहीन व्यक्ति योग के क्षेत्र में असफल ही रहता है। जो योगाभ्यास करता है, वह कभी घाटे में नहीं रहता। उसे प्रत्येक स्थिति में लाभ ही रहता है। यदि योगाभ्यास करते-करते उसकी मृत्यु भी हो जाय, तब भी उसका अगला जन्म ऐसी परिस्थितियों में होता है जहाँ वह गत जन्म के अपने अधूरे अभ्यास को पूरा कर सकता है।

कृष्ण के अनुसार कर्मकाण्ड का सैद्धान्तिक ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञ की अपेक्षा योग का विद्यार्थी अधिक श्रेष्ठ है। किसी भी जाति-धर्म का व्यक्ति योग के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, यद्यपि इसे प्राप्त करने में कई वर्ष ही नहीं, कई जन्मों तक प्रयत्न करना पड़ सकता है।

मुक्तात्मा

प्रज्ञाशील पुरुष जो बन्धनों से मुक्त होता है, स्थितप्रज्ञ (ज्ञान में संस्थित), गुणातीत (प्रकृति के गुणों से परे) तथा योगी (परम तत्त्व से जुड़ा हुआ) कहलाता है। वह दुःख में दुःखी और सुख में सुखी नहीं होता; क्योंकि अपनी बुद्धि को ईश्वर में लीन कर देने के कारण वह कामनाओं, भय और क्रोध से मुक्त हो

जाता है। किसी भी पदार्थ के व्यक्तिगत प्रेम के भाव से रहित होने के कारण वह जिन-जिन वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों के सम्पर्क में आता है, उनका न वह स्वागत करता है और न अनादर करता है। उसकी बाह्यदृष्टि इस विश्व पर होती है, पर उसके मन की दृष्टि भगवान् पर ही टिकी रहती है।

साधारण व्यक्तियों के लिए पदार्थों की अनुपस्थिति में भी उनसे प्राप्त होने वाले सुख की अनुभूति निरन्तर बनी रहती है, परन्तु ज्ञानी पुरुष के लिए, जो परम तत्त्व का दिव्य स्वाद चख लेता है, सांसारिक पदार्थों में कोई रस (स्वाद) नहीं रह जाता। परन्तु इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं और वे बुद्धिमान् व्यक्ति के भी मन को सांसारिक पदार्थों की ओर खींच ले जाती हैं। इसलिए ईश्वर का मनन करते समय इन्द्रियों की शक्तियों को नियन्त्रित करने हेतु सदैव सजग रहना चाहिए। यही व्यवसायात्मिका बुद्धि है।

जिस प्रकार सरिताएँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार कामनाएँ ईश्वर के ध्यान से परिष्कृत और परिशुद्ध हुए मन में एकाकार हो जाती हैं। आत्मसंयम की यह आन्तरिक स्थिति ही मोक्ष (नश्वर जीवन की दासता से मुक्ति) कहलाती है। जो अपनी बुद्धि को महत् तत्त्व पर एकाग्र कर देते हैं, अपने अस्तित्व को 'उसमें' आत्मसात् कर देते हैं, अपने जीवन को 'उसके' प्रति समर्पित कर देते हैं, केवल 'उसी' पर पूर्णरूप से निर्भर हो जाते हैं तथा जिनके दोष ज्ञान द्वारा परिमार्जित हो चुके हैं, वे ही शाश्वत सत्य तक पहुँच पाते हैं। समदृष्टि रखने वाले ज्ञानी पुरुष विद्वान्, शूद्र, गाय, श्वान, हाथी आदि विभिन्न प्रकार के प्राणियों में एक ही दिव्य तत्त्व की उपस्थिति को मानते हैं।

उनके अनुसार इस विविधता से जीवन की मुख्य धारा में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न नहीं होता ।

बोध या चेतना (Consciousness) को सन्तुलित करने से मोक्ष की प्राप्ति इसी जन्म में हो सकती है; क्योंकि ब्रह्म सब-कुछ है और प्रत्येक वस्तु में है । वस्तुओं, व्यक्तियों आदि के सम्पर्क में आने के उपरान्त जो सुख मिलता है, उसके गर्भ में दुःख-पीड़ाएँ ही पोषित होती रहती हैं । वह सुख अस्थायी होता है । इसलिए ज्ञानी पुरुष उससे किसी प्रकार का रस नहीं प्राप्त करता । जो ब्रह्ममय हो जाता है, वह ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है । वही वास्तविक योगी है । उसके आन्तरिक आह्लाद और आन्तरिक प्रबोधन से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है ।

ज्ञानी पुरुष किसी से घृणा नहीं करता । वह सबके प्रति प्रेम-भाव रखता है । यद्यपि वह दृढ़ निश्चयी होता है, परन्तु वह करुणा और सहानुभूति की भावनाओं से ओतप्रोत होता है । वह दूसरों से अपने लिए कुछ नहीं चाहता । वह दूसरों को ही प्रसन्नता के उपहार बाँटता रहता है । उससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा वह स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता । अपने सारे कर्म करते समय वह किसी प्रकार की पहल नहीं करता । उसकी दृष्टि में पहल करने का काम ईश्वर का है । मित्र-शत्रु, मान-अपमान, शीत-उष्ण, दुःख-सुख में जो समदृष्टि रखता है; जो मितभाषी होता है, ईश्वरेच्छा से जो भी वस्तु उसे प्राप्त हो जाती है, उसमें सन्तुष्ट हो जाता है; कोई भी व्यक्ति, वस्तु जिसकी अपनी नहीं होती; जो अपनी साधना में धीर-गम्भीर और सन्तुलित रहता है—वही ज्ञानी पुरुष है । वह सदा-सदा के लिए मुक्त है ।

मृत्यु और उसके बाद

गीता में भगवान् ने यह आश्वासन दिया है कि जो उनका स्मरण करता हुआ यह संसार छोड़ता है, वह अन्त में उन्हीं को प्राप्त होता है। मृत्यु के समय मानव के जो अन्तिम विचार होते हैं, उन्हीं से उसका भविष्य निर्धारित होता है। ये अन्तिम विचार सम्पूर्ण जीवन के चिन्तन के ही सञ्चित परिणाम होते हैं, अतः समग्र वर्तमान जीवन ही भविष्य के जीवन का निर्धारक बन जाता है। जिस प्रकार किसी कड़वे वृक्ष में मीठे फल नहीं लगते, उसी प्रकार दोषपूर्ण ढङ्ग से व्यतीत किये गये जीवन के अन्तिम क्षणों में दिव्य विचारों का प्रादुर्भाव नहीं होता। किसी पेड़ का फल देख कर ही उस (पेड़) के बारे में जाना जाता है।

जो विचारधारा समस्त जीवन को सञ्चालित करती रहती है, वही मृत्यु के क्षणों में अन्तिम विचार बनती है और भविष्य के जीवन का निर्धारण करती है। कोई व्यक्ति मृत्यु के क्षणों में जिसके बारे में चिन्तन करता है, अगले जन्म में वह वही बनता है। योगाभ्यास के द्वारा जो एकाग्रचित्त से सूर्य के समान देदीप्यमान परमपुरुष का सदैव चिन्तन करता है तथा अपनी मृत्यु के क्षणों में दत्त-चित्त हो कर अविचल भक्तिभाव से अभीप्सा के साथ भगवान् का स्मरण करता है, वह उन्हें (भगवान् को) प्राप्त कर लेता है। समस्त इन्द्रियों को विषयों से हटा कर, हृद्देश में मन को स्थिर कर के, मस्तक में प्राण को स्थापन कर, योग-धारणा में स्थिर हो कर 'ओ३म्' का उच्चारण करते हुए और मात्र ईश्वर का ध्यान करते हुए जो अपने प्राणों को विसर्जित करता है, वह जीवन के परम लक्ष्य (ईश्वर को) प्राप्त कर लेता

है। उसे प्राप्त करने के बाद उसको संसार और सांसारिक क्लेशों का भान नहीं रहता।

मृत्यु के उपरान्त आत्मा उपनिषदों में वर्णित जिन दो मार्गों—उत्तरायण और दक्षिणायन—से गमन करती है, उनका सार-गर्भित वर्णन गीता में है। सौभाग्यशाली आत्माएँ मोक्षोन्मुखी मार्ग से आगे बढ़ती हैं। इस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि, दिन, प्रकाश, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीनों के देवता हैं। जिन आत्माओं को पुनः जन्म लेना होता है, वे जिस मार्ग से गमन करती हैं उस मार्ग से धूमाभिमानी, रात्राभिमानी तथा कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः महीनों के अभिमानी देवता हैं। गीता में उन दोनों मार्गों के इन देवताओं से हो कर जाने का अर्थ स्पष्ट नहीं है। उपनिषदों में भी इनका वर्णन है, परन्तु उनमें भी इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। जब मृत्यूपरान्त आत्माएँ ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म संस्तरों से होती हुई गमन करती हैं तब इन (संस्तरों) में आत्माओं को जो रहस्यात्मक अनुभव होते हैं, वे ही ये सौभाग्य-शाली आत्माओं के उत्तरी मार्ग (अचिरादि मार्ग) तथा पुनर्जन्म लेने वाली आत्माओं के दक्षिणी मार्ग (धूम मार्ग) हैं। आत्माओं की आध्यात्मिक तथा अध्यात्म-विरोधी प्रवृत्तियों के आधार पर ही इस बात का निर्धारण होता है कि वे किन संस्तरों से होती हुई गमन करेंगी।

व्यक्ति के तीन प्रकार के स्वभावों के वर्गीकरण के प्रकरण में गीता इस बात को स्पष्ट करती है कि प्रकृति के जिन गुणों का व्यक्ति में प्राधान्य होगा, उसी के अनुसार आत्मा के भाग्य का निर्णय होता है। जब शरीर या व्यक्तित्व के अणु-अणु में बोध-

शक्ति का प्रकाश व्याप्त हो जाता है, तब उसमें (व्यक्तित्व में) सत्त्वगुण का प्राधान्य होता है। इस स्थिति में जिसकी मृत्यु होती है, वह उच्चतम सत्य का साक्षात्कार करने वाले महापुरुषों के समान दिव्य स्वर्गादि देदीप्यमान लोकों में जाता है।

जब व्यक्तित्व में विषय-भोगों की लालसा, लोभ, चित्त-विक्षेप, अविराम रूप से कार्य करने तथा उन्हें स्वार्थबुद्धि से आरम्भ करने की प्रवृत्तियों की प्रधानता हो जाती है, तब उस पर रजस् गुण का मुख्य प्रभाव होता है। इस स्थिति में मृत्यु होने पर व्यक्ति का जन्म उन लोगों के बीच होता है जिन्हें कर्म में आसक्ति होती है।

जब किसी व्यक्ति में अज्ञान, अकर्मण्यता, विभ्रम तथा प्रमाद की प्रधानता पायी जाती है, तब उस पर तमस् का प्रभाव होता है। इस स्थिति में मृत्यु होने पर उसका जन्म ऐसी माताओं के गर्भ में होता है जो भ्रमित और अविवेकी (मूढ़) होती हैं। मृत्यु के बाद सात्त्विक प्रकृति का व्यक्ति उच्चतर देदीप्यमान लोकों में जाता है, रजस् प्रकृति वाला मध्य के कर्म-लोक में जाता है तथा जो तमस् प्रकृति का होता है, वह अन्धकार के निम्नस्तरीय लोक में जाता है।

जब व्यक्ति इन तीन गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को (कर्मों के) कर्त्ता के रूप में नहीं देखता और इन तीनों गुणों से परे परमात्मा को ही तत्त्व-रूप से जानता है तब वह उन परमात्मा के ही स्वरूप को प्राप्त होता है।

भगवद्गीता का मुख्य अभिप्राय

गीता में वर्णित मानवता को सम्बोधित कृष्ण का अमृतोपदेश समाज के किसी विशेष वर्ग के मत, सम्प्रदाय, पन्थ या धर्म से सम्बन्धित नहीं है। न ही इसका सम्बन्ध सांसारिक कार्यकलापों से असम्बद्ध किसी सुदूर लोक के जीवन से है। इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मानवीय अनुभवों से है। इसमें एक व्यवस्थित अनुशासन के नियमों को निर्धारित किया गया है। इसमें जीवन के किसी भी पक्ष की उपेक्षा नहीं की गयी है। जीवन एक प्रक्रिया है जो ब्रह्माण्ड की प्रत्येक स्तर की अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है।

उपदेशों की विश्वजनीनता, विषय-वस्तु की व्यापकता तथा दृष्टिकोण की सम्पूर्णता के कारण गीता एक महान् ग्रन्थ बन गया है। इसमें एक श्रेष्ठतम महापुरुष ने सम्पूर्ण जीवन के परिशुद्ध विज्ञान को प्रस्तुत किया है। ईश्वर और जीव के इस संवाद में दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है और जीव के सम्मुख ही उसकी भव्य नियति भी स्पष्ट रूप से उभरती है।

गीता के अनुसार मनुष्य के कष्टों का मुख्य कारण यह है कि उसने (अपने) शरीर, संसार और ईश्वर के साथ अपने सम्बन्धों के बारे में गलत धारणा बना ली है। शरीर नाशवान् है, संसार परिवर्तनशील है और ईश्वर नित्य और अमर है—इस तथ्य को भूल कर मानव शरीर और सांसारिक पदार्थों को तो स्थायी महत्त्व की वस्तुओं के रूप में स्वीकार कर लेता है; परन्तु ईश्वर को ऐसे पराश्रित अस्तित्व के रूप में मानने लगता है जो

कुछ वस्तुओं (जो मानव की दृष्टि में ईश्वर को सम्पोषित करती हैं) के साथ पारस्परिक रूप से विकसित सम्बन्धों में ग्रथित है। जिस शान्ति को आत्मा खोजती रहती है, उस पर सांसारिक पदार्थों के प्रति हमारी आसक्ति ही कुठाराघात करती है। यह आसक्ति और कुछ नहीं, हमारे अज्ञान से उत्पन्न हुए मिथ्या मूल्याङ्कन हैं।

अनुभव के मिथ्यात्व तथा सत्यता के भेद को स्पष्ट करने के लिए उच्चतर प्रज्ञा का उपभोग करना चाहिए। कभी-कभी हमारी बुद्धि इन्द्रियों के साथ सहयोग करने लगती है और उनके हाथ का खिलौना बन जाती है। उस स्थिति में बुद्धि दिशा-काल तथा दृश्य जगत् के सन्दर्भ में इन्द्रियों द्वारा किये गये सांसारिक पदार्थों के मूल्याङ्कन को ही आत्मा के सम्मुख प्रस्तुत करती है तथा अनुभवों का शरीर-चेतना के अनुसार अवमूल्यन करती है। इस प्रकार के मूल्याङ्कन या निर्णय त्रुटिपूर्ण हैं; क्योंकि वे एकता के सूत्र में बाँधने वाले उस सत्य की उपेक्षा कर देते हैं जो विषय-निष्ठता से श्रेष्ठ है।

जब बुद्धि को इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त कर लिया जाता है तो वह पवित्र बन जाती है तथा प्रज्ञा उसकी सहायता करती है। जो बुद्धि इन्द्रियजनित अनुभवों को प्रतिबिम्बित करती है वह उस प्रज्ञा से भिन्न है जो आत्मा के द्वारा सम्पोषित होती है, इन्द्रियों को नियन्त्रित करती है तथा दिशा-काल के सम्बन्धों से अप्रभावित रहती है। जब अनुभव की जाने वाली घटनाओं और तथ्यों पर बुद्धि का प्रकाश डाला जाता है, तभी सत्य और भासमान के बीच का भेद स्पष्ट हो पाता है।

शारीरिक कार्यों को न करने से ही कर्म न करने की स्थिति

उत्पन्न नहीं हो जाती। शारीरिक कार्य न करते हुए भी मानव एक दूसरे दृष्टिकोण से कार्य करता रह सकता है। प्राणिक, भावात्मक और बौद्धिक कर्म ही वास्तविक कर्म हैं। इन्हें न करना ही वास्तविक रूप में कर्म न करना है। परन्तु इन्हें न करने के लिए मानव स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का नियम कर्म ही है। मानव का अस्तित्व ही इस प्रकार का है कि वह कर्म करने के लिए विवश है। इस कर्मशीलता में समचित्तता की स्थिति लाने के लिए यह आवश्यक है कि आत्मत्याग, आत्म-समर्पण, आत्म-संयम तथा आत्म-ज्ञान की भावनाओं से कर्म किया जाये।

ब्रह्माण्ड एक जीवन्त अङ्गी है। इसके प्रत्येक अङ्ग इसकी एकात्मकता को बनाये रखते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि ब्रह्माण्ड के इस जैव ढाँचे को विस्मृत न करे तथा इसके कार्यकलापों के अनुकूल ही कर्म करे। गीता में कृष्ण के द्वारा जिस योग की शिक्षा दी गयी है, उसके आधार हैं—ईश्वर की असीमता और पूर्णता का बोध, उसके प्रति आत्मसमर्पण तथा एकाग्रतापूर्वक उसका स्मरण। कर्म को न करना असम्भव है; परन्तु कर्म को योग में तत्त्वान्तरित करके उसे निष्प्रभावी बनाया जा सकता है। जीवन को प्राप्त होने वाले लाभ ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के सहयोगशील कार्यकलापों के परिणाम होते हैं; अतः किसी वस्तु या कर्म का उपयोग उससे व्यक्तिगत सन्तुष्टि प्राप्त करने हेतु नहीं करना चाहिए।

जब ज्ञान और कर्म मिल कर अत्यन्त वेगवती एक ही धारा बन जाते हैं, जब कृष्ण और अर्जुन में सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है और वे रथ में बैठे हुए आगे की ओर बढ़ते हैं, तब श्री, समृद्धि, विजय, प्रसन्नता तथा स्थिर राज्य-व्यवस्था का उदय होता है।

पञ्चम अध्याय

इतिहास एवं पुराणों के सामान्य उपदेश

अनुगीता

महत्त्व की दृष्टि से भगवद्गीता के बाद अनुगीता का उल्लेख किया जाता है। अनुगीता महाभारत का अन्तिम भाग है। एक बार पुनः भगवद्गीता का श्रवण करने के उद्देश्य से अर्जुन ने कृष्ण से प्रार्थना की थी। इस प्रार्थना को कृष्ण ने स्वीकार किया और इस प्रकार अनुगीता का जन्म हुआ। कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि परम तत्त्व की उस शक्ति का आह्वान पुनः नहीं किया जा सकता जिसके द्वारा भगवद्गीता में निहित प्रज्ञा प्रकाश में आयी थी; परन्तु अनुगीता के रूप में वे भगवद्गीता का अनुकल्प (Substitute) प्रस्तुत कर सकते हैं, यद्यपि वह भगवद्गीता के समान प्रेरणादायक नहीं है। अनुगीता मुख्यतया साङ्ख्य और वेदान्त की सामान्य विषय-वस्तु से ही सम्बन्धित है।

अनुगीता के अनुसार हमें आत्म-विजय द्वारा संसार को परा-

[८७]

भूत करना चाहिए। राजा जनक कहते हैं कि वे स्वयं को सुख देने के लिए वस्तुओं का उपयोग नहीं करते। वे सुगन्ध का आनन्द नहीं लेते, अतः उन्होंने पृथ्वी-तत्त्व को जीत लिया है। वे स्वाद (जिह्वा से सम्बद्ध) का आनन्द नहीं लेते, अतः उन्होंने जल-तत्त्व को जीत लिया है। वे रूप (चक्षु से सम्बद्ध) का आनन्द नहीं लेते, अतः उन्होंने अग्नि-तत्त्व को जीत लिया है। वे स्पर्श (त्वचा से सम्बद्ध) का आनन्द नहीं लेते, इस प्रकार उन्होंने वायु-तत्त्व को जीत लिया है। वे श्रोत्रों से सम्बद्ध शब्दों का आनन्द नहीं लेते, इस प्रकार उन्होंने आकाश-तत्त्व को जीत लिया है। वे मन से सम्बद्ध विचार-विषयों का आनन्द नहीं लेते, इसलिए उन्होंने मन को जीत लिया है। वे स्वयं को सुख देने के लिए नहीं, वरन् अधिदेवताओं और अधिभूतों के कारण कर्म करते हैं। उपनिषद् नामक अध्याय के अन्तर्गत सृष्टि-प्रकरण में अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव के सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला जा चुका है।

एकान्तवास करते हुए जब इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया जाता है और मन को विषयों की दासता से मुक्त कर दिया जाता है, तब अध्यात्म-अग्नि प्रज्वलित होती है। आत्म-नियन्त्रण से यह अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित हो जाती है। मृत्यु के समय कुछ क्षणों के लिए जो व्यक्ति इस स्थिति में रह लेता है, वही अमर हो सकता है। पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि इस अग्नि की जिह्वा हैं। ऐन्द्रिक विषय इस अग्नि के लिए लकड़ियों के गट्टे के समान हैं। द्रष्टा, चिन्तक, श्रोता और ज्ञाता के रूप में आत्मा यज्ञ के अनेक ऋत्विकों के समान है। अनुभूति, बोध और ज्ञान के यज्ञ में समस्त विषय आहुतियाँ हैं। जो व्यक्ति

इस आन्तरिक यज्ञ को सम्पन्न करता है, वह दृश्य जगत् के प्रभाव से मुक्त हो जाता है तथा उसमें ब्रह्माण्ड-सृष्टि की रचना करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। आत्मा की ब्रह्माण्ड-अग्नि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की आहुति अर्पित करनी चाहिए। दश इन्द्रियाँ ऋत्विक् हैं। उनकी क्रियाएँ आहुतियाँ हैं। इन्द्रियों के देवता यज्ञ की अग्नियाँ हैं। मन कलछी (स्रुवा) है। संज्ञान (Cognition) पदार्थ है। व्यक्ति और ब्रह्माण्ड में यज्ञ की प्रक्रिया सतत चल रही है, इसलिए कहीं भी अकर्म की स्थिति नहीं है।

जब मन अपने को अभिव्यक्त करना चाहता है, तब अन्दर की समान अग्नि प्रज्वलित हो कर प्राण को अपान से मिला देती है। तब उदान की सहायता से प्राण शिर की ओर ऊपर उठता है। फिर व्यान की क्रियाओं के कारण यह कण्ठ तथा तालु से हो कर गुजरता है और श्रव्य वाणी को उत्पन्न करता है। जब प्राण की क्रिया कम हो जाती है, तब यह (प्राण) फिर नीचे उतर कर समान में मिल जाता है।

इन्द्रियों के समान प्राण को भी ब्रह्माण्डव्यापी यज्ञ का ऋत्विक् माना जा सकता है। प्राण तथा शेष अन्य प्राण (समान, व्यान, उदान आदि) हिरण्यगर्भ (जो ब्रह्माण्ड-प्राण है) से निकल कर ऊपर उठते हैं और अन्त में उसी (हिरण्यगर्भ) में मिल जाते हैं। ब्रह्माण्ड-प्राण की क्रियाओं से प्राण से पोषित वायु अपान-रूप में उत्पन्न होती है, अपान से पोषित वायु व्यान-रूप में उत्पन्न होती है, व्यान से पोषित वायु उदान-रूप में उत्पन्न होती है और उदान से पोषित वायु समान के रूप में उत्पन्न होती है। प्राण तथा अपान का सञ्चरण समान और व्यान के मध्य में

होता है। जब प्राण तथा अपान को रोक दिया जाता है तो समान और व्यान का एक साथ ही प्रत्याहार हो जाता है। प्राण और अपान के बीच में ही उदान स्थित है। उदान सभी प्राणों का आधार है। यह वैश्वानर-अग्नि है जो व्यक्ति में नाभि के मूल (नाभिदेश) में समान के रूप में पायी जाती है। यह इन्द्रियों की तथा अनुभूतिक्षम और संज्ञानात्मक शक्तियों के रूप में प्रकट होती है। प्राण और अपान यज्ञ के दो यज्य भाग हैं तथा बीच में उदान-रूप में यज्ञ की अग्नि है। यह ज्ञान-यज्ञ तथा योग-यज्ञ है।

जो भागवती चेतना से युक्त है, वह ब्रह्मचारी है। उसकी किसी विशेष कर्म में आसक्ति नहीं रहती। ब्रह्म उसकी समिधा है। ब्रह्म उसकी यज्ञाग्नि है। ब्रह्म उसकी संस्तर (यज्ञ की कुशा) है। ब्रह्म उसका आपस् (जल) है। ब्रह्म उसका गुरु है। ऐसा ही व्यक्ति ब्रह्मचारी है। जो सब प्राणियों को कामनारहित हो कर तत्त्वतः समदृष्टि से देखता है, वही इस दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है।

आत्मनियन्त्रण का उपाय

भीष्म ने युधिष्ठिर से धर्म के सिद्धान्तों पर काफी विस्तृत चर्चा की। इसके बाद भी युधिष्ठिर इस बात को ले कर दुःखी रहे कि उन्होंने युद्ध में अपने परिचितों और सम्बन्धियों का बध करके पाप-कर्म किया है। तब उन्हें कृष्ण ने इस प्रकार समझाया—

“वह सब मरणशील है जिसका सम्बन्ध कामनाओं से होता है। ब्रह्म का पद कामनाओं से परे तथा निष्कलङ्क और त्रुटि-हीन है। यह सर्वोच्च ज्ञान का लक्ष्य है। तुमने कोई कर्म नहीं किये हैं। तुमने किसी शत्रु पर विजय प्राप्त नहीं की। तुम कैसे कह सकते हो कि तुमने शत्रुओं को विजित कर लिया जबकि अपने अन्दर बैठे एक प्रबलतम शत्रु—मन—को अभी तक तुम खोज नहीं पाये। इससे सम्बन्धित यह कहानी मननीय है—

“एक वार इन्द्र और वृत्र के बीच घोर युद्ध हुआ। वृत्र ने समूची धरती पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने धरती (गन्ध जिसकी तन्मात्रा है) को दुर्गन्ध से भर दिया। तब इन्द्र बहुत क्रोधित हुआ और धरती में छिपे हुए अपने शत्रु वृत्र पर उसने अपने विकराल अस्त्र वज्र से प्रहार किया। वृत्र तत्काल ही जल-तत्त्व में प्रवेश कर गया और उसने रस या स्वाद (जो जल की तन्मात्रा है) पर अधिकार कर लिया। इन्द्र ने पानी में भी उस पर वज्र से प्रहार किया। वृत्र जल छोड़ कर अग्नि-तत्त्व में प्रवेश कर गया और उसने रूप (जो अग्नि की तन्मात्रा है) अर्थात् दृश्य रूपों के सारतत्त्व पर भी अधिकार कर लिया। इन्द्र ने उस पर दोबारा प्रहार किया। तब वह (वृत्र) वायु-तत्त्व (जिसकी तन्मात्रा स्पर्श है) में प्रवेश कर गया। इस प्रकार उसने स्पर्श किये जाने वाले सभी पदार्थों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया। जब इन्द्र ने वायु में भी उस पर प्रहार किया, तब वह आकाश-तत्त्व में प्रवेश कर गया। वहाँ भी इन्द्र के वज्र ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। अब तो दुनिया में उसके लिए कोई भी शरणस्थल शेष नहीं बचा। तब वह इन्द्र में ही प्रवेश कर गया और उसने सब ओर से इन्द्र को अभिभूत कर लिया।

जब इन्द्र का पूरा शरीर इस प्रकार उससे प्रभावित हो गया तो उसका मन भ्रमित हो गया। वह भूल गया कि उसको क्या करना है? वसिष्ठ मुनि ने इन्द्र को रथन्तर साम द्वारा उद्बोधित किया। वसिष्ठ के प्रभाव से इन्द्र की चेतना लौटी और उसने अपने अन्दर बैठे शत्रु को अदृश्य अद्रव्यात्मक वज्र—मनः-शक्ति—से पराजित कर दिया।”

कृष्ण ने आगे कहा : “यहाँ रोग दो प्रकार के होते हैं—शारीरिक और मानसिक। ये दोनों प्रकार एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा परस्पर निर्भर हैं। इस पारस्परिक निर्भरता के बिना रोगों का जन्म नहीं होता। जब रोग शरीर में प्रकट होता है तब शारीरिक और जब मन में प्रकट होता है तब मानसिक कहलाता है। वात, पित्त और कफ शरीर के त्रिदोष हैं। जब इन तीनों में सामञ्जस्य होता है, तब उस स्थिति को शारीरिक स्वास्थ्य कहते हैं। जब यह सामञ्जस्य टूटता है तब रोगों की उत्पत्ति होती है। कफ का निवारण पित्त द्वारा होता है।

“सत्त्व, रजस् और तमस् के गुणों के बीच सन्तुलन रहना स्वास्थ्य का परिचायक है। जब यह सन्तुलन बिगड़ता है तब स्वास्थ्य-विरोधी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह देखा जाता है कि दुःख पर प्रसन्नता से नियन्त्रण पाया जा सकता है। इसी प्रकार जब दुःख हो तब सुख की अनुभूति नहीं होती। जब कोई व्यक्ति दुःखी होता है तब वह विगत अथवा भावी सुखों का चिन्तन करता है। जो सुखी होता है, वह उस दुःख का स्मरण करता है जिसे वह पराजित कर चुका है। तुम्हारा अपना

कर्तव्य न तुमको सुखी बनाता है और न दुःखी। ईश्वर तुमसे अधिक शक्तिशाली है और वह प्रत्येक वस्तु पर नियन्त्रण रखता है।

“विगत विपत्तियों पर दुःखी होना मन का एक दोष है। भीष्म और द्रोण के साथ जो युद्ध तुमने किया था, वह फिर से प्रारम्भ हो गया है। इस युद्ध में अब तुम्हें अपने अकेले मन से लोहा लेना होगा। इस युद्ध में तीर-कमान, शारीरिक पराक्रम, योद्धा, सम्बन्धीजन—कोई भी काम नहीं आयेंगे। इसमें तुम्हें अकेले ही लड़ना होगा ताकि तुम सम्भ्रम से मुक्त हो सको। इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद तुम ऐसी स्थिति में पहुँच जाओगे जिसे जान-समझ कर तुम वह सब कर चुकोगे जो इस दुनिया में सबको करना होता है। इस उदात्त ज्ञान में अपने को संस्थित करो और समस्त प्राणियों में निहित सारभूत सत्य को जानो।

“बाह्य भौतिक पदार्थों का त्याग करने अथवा अपने शरीर की उपेक्षा करने मात्र से ही पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती। वास्तविक पूर्णता तब प्राप्त होती है, जब मन को अनुशासित और नियन्त्रित कर लिया जाता है। बाह्य पदार्थों को ऊपरी मन से त्याग कर मानसिक रूप से उनका चिन्तन करने वाले व्यक्ति के गुण वास्तव में दोष ही हैं तथा उसकी तथाकथित प्रसन्नता दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनुष्य अमर हो जाय या साधारण प्राणियों की तरह मृत्यु को प्राप्त हो, इसका निर्धारण उसी के अन्दर पाये जाने वाले कारणों से हो जाता है। स्वार्थपरता मृत्यु है और निःस्वार्थता ही अमरता है। व्यक्ति के समस्त कर्म इन्हीं दो प्रवृत्तियों से प्रेरित हो कर किये जाते हैं। पूरी धरती पर अधिकार हो जाने के पश्चात्

भी जो उसमें आसक्ति नहीं रखता, उसके लिए इस (धरती) की क्या उपयोगिता है ? दूसरी ओर कन्द-मूल पर निर्वाह करने वाला जो अरण्यवासी सांसारिक पदार्थों की कामना करता रहता है, वह सचमुच मृत्यु के मुँह में है ।

“इस संसार में कोई भी कार्य या उद्यम ऐसा नहीं है जो कामनाओं से प्रेरित हो कर न किया जाता हो । सभी कामनाएँ मन से ही उद्भूत होती हैं । बुद्धिमान् व्यक्ति विवेक द्वारा अपने मन को अपने नियन्त्रण में रखता है । इस सन्दर्भ में ‘कामगीता’ के ये उद्धरण महत्त्वपूर्ण हैं—

“काम कहता है : ‘जो यथोचित साधनों का सहारा नहीं लेता, वह मुझे पराजित नहीं कर सकता । जो अपनी शक्ति से मुझे मारना चाहता है, मैं उसके अन्दर फिर प्रकट हो जाता हूँ । जो मुझे यज्ञ-दानादि के माध्यम से नष्ट करना चाहता है, मैं उसके अन्दर दोबारा प्रवेश कर जाता हूँ । जो वेदाध्ययन और वेदान्त के ज्ञान के सहारे मुझे पराजित करना चाहता है, मैं उसके अन्दर पहुँच जाता हूँ । जो मात्र सङ्कल्प से मुझे नष्ट करना चाहता है, वह मुझे समझता ही नहीं; क्योंकि मैं उसके विचारों और भावनाओं के पृष्ठ भाग में रहता हूँ । जो तप और आत्मदमन की सहायता से मुझे समाप्त करना चाहता है, मैं उसके अन्दर आ जाता हूँ । जो मोक्षाभिमुखी हो कर मुझे समाप्त करना चाहता है, उसकी मोक्ष प्राप्त करने की कामना को सोच-सोच कर मैं प्रसन्नता से नाचता-हँसता हूँ । यहाँ सब प्राणियों में मैं एक अविनाशी शक्ति हूँ ।’ इसलिए, हे युधिष्ठिर ! अपनी कामना को सदाचार पर केन्द्रित करो ताकि उसकी गति सदाचार की ओर रहे तथा सदाचार में ही संस्थित रहे ।”

मन को नियन्त्रित करने के लिए दो पूर्वपिक्षाएँ हैं—वैराग्य तथा अभ्यास । योगाभ्यासी को यथासम्भव सुख प्राप्त करने की दृष्टि से की जाने वाली कामनाओं से मुक्त रहना चाहिए—वह सुख चाहे दृष्ट हो या अदृष्ट । यही वैराग्य है । यह तभी उत्पन्न होता है जब पदार्थों में स्पष्ट रूप से दिखायी देने वाले दुर्गुणों का निरन्तर अनुभव किया जाये । इहलोक में तथा परलोक दोनों में ऐन्द्रिक-उपभोग के प्रति विरुचि भी वैराग्य है । यह वैराग्य दो प्रकार का होता है—निम्न और उच्च । इन दोनों प्रकारों में भेद है । निम्न वैराग्य तब उत्पन्न होता है जब इस बात का कटु अनुभव हो जाता है कि बिना कष्ट उठाये वस्तुएँ न उपलब्ध की जा सकती हैं और न उन्हें सुरक्षित रखा जा सकता है । जब वे नष्ट हो जाती हैं, तब वेदना का अनुभव होता है तथा उनकी खोज की प्रक्रिया अहंमन्यता के भाव से मुक्त नहीं रह पाती । दूसरी ओर, जब अन्तरात्मा तथा उसके प्रकाश में दिखलायी पड़ने वाले सांसारिक पदार्थों में पाये जाने वाले भेद का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है, तब उच्च वैराग्य उत्पन्न होता है ।

ऐन्द्रिक सुख से विरत रहने का सङ्कल्प वैराग्य का प्रथम चरण है । इसके दूसरे चरण में कुछ पदार्थ साधक के लिए रसहीन हो जाते हैं तथा साधक स्वयं भी कुछ अन्य पदार्थों में अपनी पूर्वासक्ति को समाप्त करने का प्रयत्न करता है । तृतीय चरण में इन्द्रियों को नियन्त्रित कर लिया जाता है; परन्तु इस स्थिति में भी मन में ऐन्द्रिक सुख के प्रति एक अस्पष्ट आकांक्षा बनी रहती है । चतुर्थ चरण में बाह्य—भौतिक तथा वैचारिक दोनों ही पदार्थों में योगाभ्यासी की आसक्ति बिलकुल समाप्त हो जाती है ।

इच्छारहित होने की यही स्थिति होती है। इस स्थिति में साधक परम स्वतन्त्र हो जाता है तथा अपनी समस्त अतीन्द्रिय क्षमताओं से वह अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है। सर्वज्ञता जैसे प्रलोभन भी उसे प्रभावित नहीं कर पाते।

आधारभूत नीतिशास्त्र

महाभारत जीवन का एक महाकाव्य है। यह ग्रन्थ इस सत्य को उद्घाटित करता है कि जीवन एक यात्रा है और धर्माचरण में ही इसकी सार्थकता है। अच्छाई और बुराई के रूप में सार्वभौम न्याय बुराई का दमन करके अच्छाई को विजयी बनाता है। सांसारिक पदार्थ नाशवान् है और मानवीय गौरव क्षणिक है। संग्रह की हुई वस्तुएँ कुछ ही दिन टिक पाती हैं। प्रत्येक उत्थान का पतन होता है। संयोग का अन्त वियोग है। जीवन का अन्त मृत्यु है। जिस प्रकार सागर में लकड़ी के लट्ठे एक-दूसरे से मिलते हैं और फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस संसार में प्राणी भी एक-दूसरे से मिल कर अलग हो जाते हैं।

कामनाओं की पूर्ति से उनका अन्त नहीं होता। सच बात तो यह है कि उनकी पूर्ति से उनकी वृद्धि होती है—उस अग्नि की तरह जिस पर घी डाल दिया गया हो। संसार की समूची सम्पदा किसी एक व्यक्ति की भी कामनाओं की पूर्ति नहीं कर सकती। इस सत्य को हृदयङ्गम करके मानसिक शान्ति की प्राप्ति करनी चाहिए।

अनेक जन्मों में हमारे अनेक माता-पिता, पत्नियाँ और

सन्तानें रही हैं। हम उनमें से किसके हैं ? हमारा उनसे क्या सम्बन्ध है ? प्रतिदिन व्यक्तियों की मृत्यु होती है और उनका दाह-संस्कार किया जाता है। फिर भी जीवित व्यक्ति अपने को मृत्यु के निकट नहीं पाते। इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या होगी ?

बुद्धिमान् व्यक्ति दुःख में दुःखी और सुख में सुखी नहीं होता। जो दुःख-सुख में डूब कर अपनी नियति को भूल जाता है, वह मूर्ख है।

इस संसार में धर्म सर्वोच्च तत्त्व है। धर्म से ही अर्थ (सांसारिक समृद्धि), काम (कामनाओं की पूर्ति) तथा मोक्ष (आत्यन्तिक मुक्ति) की प्राप्ति होती है। कितने आश्चर्य की बात है कि लोग धर्माचरण की आवश्यकता को महत्त्व नहीं देते जबकि धर्म से सब-कुछ प्राप्त किया जा सकता है। धर्म का सारतत्त्व यह है कि हमें दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करना चाहिए, जो हम दूसरों से अपने लिए नहीं चाहते। स्वार्थपरता मृत्यु है। निःस्वार्थता अमरत्व है। मृत्यु और अमरता व्यक्ति के अन्दर ही हैं, किसी सुदूर स्थान पर नहीं।

समूह या परिवार की भलाई के लिए व्यक्ति का, समुदाय की भलाई के लिए समूह का, देश की भलाई के लिए समुदाय का और आत्म-कल्याण के लिए देश ही नहीं, विश्व का भी परित्याग किया जा सकता है।

प्रमाद मृत्यु है। इससे इतर कोई मृत्यु नहीं होती। 'मेरा-पन' की भावना मृत्यु है। कोई मेरा नहीं है—इस तथ्य का ज्ञान अमरता है।

ये महाभारत के कुछ सुभाषित हैं, जिन पर किसी-न-किसी रूप में सम्पूर्ण ग्रन्थ में आद्योपान्त बल दिया गया है। सामान्य-तया इनका सङ्केत इस तथ्य की ओर है कि सांसारिक जीवन अल्पकालिक है और ब्रह्म-साक्षात्कार ही जीवन का परम लक्ष्य है। महाभारत का मूल भाव यह है कि जब-जब नैतिकता-सदाचार पर सङ्कट आया है, ईश्वर ने सदैव सहायता की है।

महाभारत में 'भगवद्गीता' तथा 'अनुगीता' के अतिरिक्त 'सन्तसुजातीय' और 'मोक्षधर्म' की दार्शनिक विचारधारा को प्रस्तुत करते हैं। महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्म-प्रकरण में धर्म द्वारा निर्देशित राजनैतिक प्रशासन की विस्तृत व्याख्या की गयी है। मनु की संहिता समेत यह व्याख्या प्राचीन भारतीय राज्य-व्यवस्था की एक मानक प्रस्तुति है। महाभारत के अन्तर्गत 'विदुर-नीति' राजनैतिक आचरण से सम्बन्धित एक प्रसिद्ध पुस्तक है। इन परिच्छेदों के शेष अन्य विवरणों में अधिकांश में सामान्यतः वेदान्त, साङ्ख्य, योग तथा धर्म को ही सविस्तार प्रस्तुत किया गया है।

'हरिवंश' महाभारत का परिशिष्ट है। इसमें कृष्ण के प्रारम्भिक तथा पारिवारिक जीवन का चित्रण है। इसमें उनके द्वारा किये गये पराक्रम के कार्यों का भी उल्लेख है। इन कार्यों की चर्चा हम बाद में करेंगे। इसके अतिरिक्त इसमें ब्रह्माण्ड की सृष्टि के प्रारम्भ से कृष्ण के अवतरण तक के कालखण्ड में घटित घटनाओं से सम्बन्धित पौराणिक सामग्री भी है। यद्यपि हरिवंश में कृष्ण के बहुपक्षीय जीवन से सम्बन्धित अतिरिक्त विस्तृत सामग्री उपलब्ध है; परन्तु भागवतपुराण में जिस सामर्थ्य और गम्भीरता के साथ इस गौरवमय अवतार का वर्णन प्रस्तुत किया

गया है, उसकी बराबरी उपर्युक्त सामग्री नहीं कर सकती। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि महाभारत के अतिरिक्त भागवतपुराण ही इस विषय का एक श्रेष्ठ गौरव ग्रन्थ है।

पुराणों की मुख्य विषय-सामग्री

उपनिषद् नामक अध्याय में पुराणों में वर्णित सृष्टि-सिद्धान्त का वर्णन संक्षेप में किया जा चुका है। पुराणों में सृष्टि-वर्णन के साथ-साथ काल-गणना की पद्धति भी बतलायी गयी है जिसकी सहायता से ब्रह्माण्ड में घटित होने वाली घटनाओं के समय (काल) का निर्धारण किया जा सकता है। एक चान्द्रमास में पन्द्रह दिवसों और रात्रियों से एक पक्ष बनता है। एक मास में चन्द्र की कलाओं के अनुसार शुक्ल और कृष्ण दो पक्ष होते हैं। दो महीनों से एक ऋतु तथा तीन ऋतुओं से एक अयन (सूर्य की अर्धगोल गति) बनता है। अयन दो होते हैं—उत्तरायण, दक्षिणायन। दो क्रमागत अयनों से एक (मानवीय) वर्ष बनता है। ३६० (मानवीय) वर्षों से एक दिव्य वर्ष बनता है।

१२००० दिव्य वर्षों से चारों युगों (कृत, त्रेता, द्वापर, कलि) का एक चक्र बनता है। सत्य, सदाचार, जीवनावधि तथा सामान्य समृद्धि की सर्वोच्च स्थिति कृतयुग में होती है। त्रेता, द्वापर और कलि युगों में इनकी स्थिति में क्रमिक ह्रास होता जाता है। कृतयुग की अवधि ४८०० दिव्य वर्ष, त्रेता की ३६०० दिव्य वर्ष, द्वापर की २४०० दिव्य वर्ष तथा कलियुग की १२०० दिव्य वर्ष है।

कलियुग का प्रारम्भ ३१०१ ईसवी पूर्व में हुआ था—इसी वर्ष कृष्ण का इस धरती से तिरोभाव हुआ था। इन चारों युगों के ७१ चक्र से एक मन्वन्तर बनता है। एक मन्वन्तर की अवधि तक मनु इस जगत् पर शासन करते हैं। मनु १४ हैं। वर्त्तमान में सातवें मनु का शासन है। इन चौदहों मनु की सम्पूर्ण शासन-अवधि (मनुओं की शासनावधि के बीच के कालखण्ड—सन्धिकाल—को इस अवधि में जोड़ देने से १००० चतुर्युग चक्र होते हैं) सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा का एक दिवस (कल्प) है। ब्रह्मा की रात्रि भी इतनी ही लम्बी होती है। ३६० कल्पों से ब्रह्मा का एक वर्ष बनता है। ब्रह्मा की आयु ऐसे १०० (ब्रह्मा) वर्ष हैं। वर्त्तमान समय में ब्रह्मा का इक्यावनवाँ वर्ष चल रहा है। ब्रह्मा के जीवन का अन्त होने पर प्रकृति-प्रलय-होती है। उस समय ब्रह्मा अपनी सृष्टि समेत महत् तत्त्व में विलीन हो जाते हैं। जिन जीवों को मोक्ष नहीं प्राप्त होता, वे प्रलय की दशा में प्रसुप्त (Dormant) स्थिति में पड़े रहते हैं तथा अगली सृष्टि में जन्म लेते हैं।

पुराणों के सृष्टि-वर्णन में खगोलीय ब्रह्माण्ड, सौर-परिवार तथा पृथ्वी समेत चौदहों लोकों (जिनमें ६ पृथ्वी के नीचे तथा ७ पृथ्वी के ऊपर हैं) का भी वर्णन है। पृथ्वी लोक पर ७ महा-द्वीप तथा ७ सागर हैं। ये महाद्वीप तथा सागर सङ्केद्रित रूप से स्थित हैं। प्रत्येक परवर्ती महाद्वीप और सागर अपने पूर्ववर्ती से सीमा में दोगुना है। पर्वतों, नदियों तथा मन्दिरों समेत धरती का विस्तृत भौगोलिक वर्णन भी पुराणों में है। एक अन्य गणना भी पुराणों में प्रस्तुत की गयी है जिसके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वों में प्रत्येक अनुवर्ती तत्त्व अपने पूर्ववर्ती तत्त्व से दश गुना बड़ा है। आश्चर्य-चकित कर देने वाले

इन लोकों के अतिभीतिक अस्तित्व तो हैं ही, ग्रह्याण्ड के इस वर्णन से भी उसके अविश्वसनीय विस्तार का पता चलता है। और यह विस्तार ईश्वर की तेजस्वी अभिव्यक्तियों का एक अत्यन्त महत्त्वहीन अंश है।

सृष्टिकर्त्ता से उद्भूत विभिन्न राजवंशों तथा धर्मतन्त्रों का भी वर्णन पुराणों में है। उपनिषद्-विषयक अध्याय में सृष्टि-सिद्धान्त के अन्तर्गत उल्लिखित प्रियव्रत और उत्तानपाद की वंश-परम्परा में बहुत से सांसारिक तथा आध्यात्मिक वीर-नायकों का जन्म हुआ। इनकी सन्तानें देव और असुर बनीं। देवों और असुरों के बीच निरन्तर युद्ध होता रहा जिसका विस्तृत वर्णन पुराणों में है। मनु और उत्तानपाद के इन प्रारम्भिक वंशजों के अतिरिक्त सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं और मुनियों का भी वर्णन पुराणों में है। इनकी जीवनियाँ मानवीय और अति-मानवीय स्वभावों का दिग्दर्शन कराती हैं। इन राजवंशों का इतिहास हम प्राणियों तक के पूर्वजों से जोड़ दिया गया है। इस प्रकार हमारे अस्तित्व भी उन दिव्य स्रोतों से सम्बद्ध हो जाते हैं जिनसे हम सब उद्भूत हैं। तभी तो उपनिषदों ने हमें 'अमृतस्य-पुत्र' की संज्ञा दी है।

दार्शनिक विचारधारा

महाकाव्यों और पुराणों में पूर्व मध्यकालीन वेदान्त-दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। इसमें साङ्ख्य तथा योग दर्शनों के उच्चतर पक्षों का विस्तृत वर्णन है। भगवद्गीता और अनुगीता

में प्रस्तुत महाभारत के उपदेशों पर विचार किया जा चुका है। उपनिषदों के ज्ञान की लोकप्रिय व्याख्या ही महाभारत की तत्त्व-मीमांसा है। इस व्याख्या में परमेश्वर के रूप में नारायण के साथ ब्रह्म की एकता स्थापित की गयी है। साङ्ख्य के प्रकृति तथा पुरुष को क्रमशः जगत् तथा जीव का सारतत्त्व और उपादान माना गया है। महाभारत में वर्णित वेदान्त-दर्शन के अनुसार पुरुष तथा प्रकृति ईश्वर का शरीर हैं तथा उस पर निर्भर हैं। उनका अस्तित्व ईश्वर से अविच्छेद्य है। इन ग्रन्थों में पतञ्जलि द्वारा निरूपित योग के व्यावहारिक स्वरूप को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है; परन्तु प्रकृति और पुरुष के द्वित्व और ईश्वर के अनुभवातीत एकाकीपन को मान्यता नहीं दी गयी है।

महाभारत में सृष्टि के सिद्धान्त; ईश्वर; संसार तथा आत्मा के स्वभाव; नीतिशास्त्र; मनोविज्ञान तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त का जिस प्रकार निरूपण किया गया है, वह इस पुस्तक के अन्य स्थलों में वर्णित इन सबके निरूपण से मिलता-जुलता है। महाभारत के अन्तर्गत सनत्सुजातीय में संक्षेप से तथा मोक्ष-धर्म में विस्तार से इन विचारों को प्रस्तुत किया गया है। मोक्षधर्म का नारायणीय परिच्छेद वैष्णव धर्मविज्ञान के पञ्चरात्र सिद्धान्त की आधार-शिला है। विष्णुसहस्रनाम तथा भीष्मस्तवराज (मृत्यु के समय भीष्म द्वारा की गयी प्रार्थना) तथा अन्य कई स्थलों पर जहाँ ईश्वर का प्रसङ्ग आया है, नारायण और महत् तत्त्व को एक ही तत्त्व मानते हुए नारायण को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है।

महाभारत में शिव को विष्णु के ही समकक्ष सम्मान दिया गया है और इसीलिए शिवसहस्रनाम भी इस (ग्रन्थ) में है।

यद्यपि विष्णु महाभारत-धर्म के प्रधान ईश्वर हैं; परन्तु समूचे ग्रन्थ में शिव को पूर्ण सम्मान दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकाव्यों के रचना-काल में दार्शनिक तथा ईश्वरपरक चिन्तन-क्षेत्र में साम्प्रदायिकता का प्रवेश नहीं हो पाया था। केवल पुराणों में ही अन्य देवताओं की उपेक्षा या विरोध करके किसी विशेष देवता का स्तुति-गान किया गया है।

किसी विशेष देवता को महिमान्वित करने वाले आख्यान उसके अवतारों, तीर्थ-स्थानों, व्रतों, दान-कार्यों के विवरण; सृष्टि की प्रक्रिया के संक्षिप्त या विस्तृत प्रसङ्ग; देवताओं, राक्षसों और राजाओं की वंशावलियाँ; ऋषियों से सम्बन्धित कहानियाँ; राजनीति की आधारशिलाओं से सम्बन्धित विभिन्न वक्तव्य ब्रह्माण्ड के भागों के रूप में विश्व के महाद्वीपों की स्थितियों के वर्णन ही अधिकतर पुराणों की विषय-सामग्री हैं। इस प्रकार पुराण धर्म और दर्शन से सम्बन्धित लोक-प्रचलित विचारों के सामान्य ज्ञानकोश बन गये हैं। परन्तु भागवत और विष्णुपुराण ज्ञानकोश के अतिरिक्त भी बहुत-कुछ हैं। एक उच्च दर्शन और रहस्यवाद पर आधारित अत्युत्तम साहित्यिक विषय-सामग्री उनमें भरी पड़ी है। भागवत के अनुसार प्रारम्भ में केवल ईश्वर की ही सत्ता थी। उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था—न सूक्ष्म और न स्थूल पदार्थ, न कार्य और न कारण। सृष्टि के पश्चात् भी केवल ईश्वर ही रहता है और प्रलय के बाद भी ईश्वर ही बचता है। ईश्वर के बाहर भी कोई विश्व है—इसका भान ईश्वर की मायिक शक्ति—माया—के कारण होता है।

जिस प्रकार पञ्चतत्त्व सृष्टि के पदार्थों में प्रविष्ट माने जा सकते हैं और नहीं भी माने जा सकते (क्योंकि ये पदार्थ जिन

सीमाओं और विभाजनों के अधीन हैं, उनका प्रभाव इन तत्त्वों पर नहीं पड़ता), उसी प्रकार ईश्वर भी सभी पदार्थों में है और नहीं भी है। ज्ञान का सारतत्त्व यह है—आत्मा के रूप में ईश्वर प्रत्येक क्षण, प्रत्येक स्थान पर व्याप्त है। वह उद्भूत वस्तुओं का कारण है; परन्तु वह कारणत्व (Causality) के सिद्धान्त से अप्रभावित है। वह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का साक्षी है तथा वह किसी बाह्य पदार्थ से सम्बद्ध नहीं है। इन्द्रियों की बहिर्मुख प्रवृत्तियों के कारण एक विशुद्ध चैतन्य सत्ता के रूप में वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के गुणों से युक्त भौतिक पदार्थों के रूप में प्रकट होता है। जिस प्रकार व्यक्ति अपने शरीर के विभिन्न अवयवों में कोई भेद-भाव नहीं रखता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सांसारिक पदार्थों के बीच कोई मूलभूत अन्तर नहीं देखता।

विष्णुपुराण के अनुसार परमात्मा के बाहर कुछ भी नहीं है। सम्पूर्ण विश्व उसका गौरव है। अज्ञानवश हम ईश्वर को भासमान विविधताओं से परिपूर्ण इस ब्रह्माण्ड के रूप में देखते हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व परम चैतन्य सत्ता है। अज्ञानवश हम इस विश्व को पदार्थों के समूह के रूप में देखते हैं। वस्तुतः, भगवान् कभी पदार्थ नहीं बनता। पहाड़, समुद्र आदि उस परम चैतन्य सत्ता का आभास हैं। जीव के कर्म उन स्थितियों में विविधता का सृजन करते हैं, जहाँ वह (विविधता) होती नहीं है। जब हर वस्तु में एक ही सत्ता विद्यमान है तब 'तुम कौन हो?' जैसे प्रश्नों तथा 'मैं अमुक हूँ' जैसे उत्तरों का कोई अर्थ नहीं है। अमुक राजा है, अनेक लोग उसके समर्थक हैं, उसका राजत्व है, उसके बाहर बहुत-सी वस्तुएँ हैं—ये विचार केवल कल्पना पर आधारित हैं। वस्तुतः केवल आत्मा की सत्ता है।

ब्रह्माण्ड परम आत्मतत्त्व का अविभाज्य अस्तित्व है। ब्रह्म-पुराण के अनुसार संसार या व्यक्तियों में दिखायी पड़ने वाला भेद उसी प्रकार अवास्तविक है जिस प्रकार सीप में भासित रजत अथवा अँधेरे में पड़ी रस्सी में भासित सर्प अथवा मोतियाबिन्द से पीड़ित नेत्रों से दिखायी पड़ने वाले दो चन्द्रमा अवास्तविक हैं। समस्त विचार, भावनाएँ, कर्म, अनुभव—सभी इस परम चैतन्य सत्ता के भासमान बाह्य रूप हैं। ये रूप वास्तव में अवास्तविक हैं। विष्णुधर्म के अनुसार अपने कर्मों के कारण जीव संसार में तभी तक दुःखी रहता है, जब तक वह अपने को ईश्वर से पृथक् मानता है। जब कर्म समाप्त हो जाता है, तब ईश्वर एक मात्र सत्ता के रूप में दिखलायी पड़ता है। स्वयं ईश्वर ही मानव, पशु, पक्षी, सुख, दुःख, उच्चता, नीचता के रूप में प्रकट होता है। भेद को उत्पन्न करने वाला मन ही है। बुराई-अच्छाई तथा व्यवहार की सभी पद्धतियाँ मन की वृत्ति पर ही निर्भर करती हैं। जो जैसा सोचता है, वह अन्त में वैसा ही बनता है।

लिङ्गपुराण के अनुसार ईश्वर को एक कह कर निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता; क्योंकि इससे भेद की भावना उत्पन्न होती है। केवल परम चैतन्य की ही सत्ता है, इसलिए संसार की सत्ता नहीं हो सकती। सूत-संहिता में उपनिषदों की विचारधारा प्रस्तुत की गयी है। उसके अनुसार परमतत्त्व तथा शिव अभिन्न हैं। विष्णुपुराण तथा भागवतपुराण में परमतत्त्व को विष्णु माना गया है। उनके दिव्य व्यक्तित्व को परमतत्त्व के समस्त गुणों से विभूषित किया गया है।

श्रीमद्भागवत में शेष अन्य पुराणों की अपेक्षा दार्शनिक तत्त्व अधिक हैं। इसका साहित्यिक सौन्दर्य और काव्यात्मक लालित्य

उच्चकोटि के हैं। इसका ग्यारहवाँ अध्याय 'उद्धवगीता' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अध्याय में कृष्ण ने उद्धव को जो उपदेश दिये हैं, वे भक्ति, योग और ज्ञान के दार्शनिक तत्त्वों के समन्वित सारतत्त्व हैं। इस बात पर भी बल दिया गया है कि जीवन का लक्ष्य भक्ति तथा ईश्वर-साक्षात्कार हैं। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ उत्कट भगवद्भक्ति के सजीव रूप का स्तोत्र-शास्त्र है जिसमें इतिहास, कथाओं, दृष्टान्तों, दार्शनिक विवेचनों आदि विभिन्न प्रकार के माध्यमों से भक्ति का गुणगान किया गया है।

षष्ठ अध्याय

योगवासिष्ठ

उपोद्घात

लालित्यपूर्ण संस्कृत कविता में रचित योगवासिष्ठ सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक चिन्तन से परिपूर्ण एक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसका प्रारम्भ क्षणिक तथा भृगुमरीचिका के समान कभी भी पूरी न होने वाली कामनाओं को जन्म देने वाले जीवन के दुःखों से होता है। ऐन्द्रिक सुख भ्रामक हैं। मानव का अज्ञान उसे भौतिक पदार्थों (जो तभी तक सुखकर प्रतीत होते हैं जब तक उनका उपभोग करने की कामना रहती है) में सुख ढूँढने के लिए विवश करता है। अशान्त और अधीर मन को संसार की किसी भी वस्तु में शान्ति नहीं मिलती।

कामनाओं का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता। एक वस्तु से दूसरी वस्तु तक उनकी उछलकूद का उद्देश्य मात्र एक ऐसे सुख को प्राप्त करना होता है जो उन्हें संसार के किसी बाह्य पदार्थ से कदापि नहीं मिल सकता। मानव का सम्पूर्ण जीवन एक व्यर्थ का

भूर्खतापूर्ण क्रियाकलाप है। चिन्ताग्रस्त मन को अन्त में इससे कुछ भी उपलब्ध नहीं हो पाता। सुख (प्रसन्नता) के वास्तविक स्वभाव से अनभिज्ञ रहने के परिणामस्वरूप ही इस प्रकार की दुःखद परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि के बिना मानव को वास्तविक सुख और प्रसन्नता की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ज्ञान आकाश से नहीं टपक पड़ता। इसे प्राप्त करने के लिए उचित रीति से निर्देशित प्रयत्न करना चाहिए। तभी पूर्णता की प्राप्ति होती है। सन्तोष, शान्ति (मानसिक शान्ति), सत्सङ्ग (सत्पुरुषों का सङ्ग) तथा विचार (सत्य का बुद्धिसङ्गत अन्वेषण) की प्रवृत्तियों को व्यवहार में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञान (जो मात्र बौद्धिक समझ या सैद्धान्तिक पठन नहीं है तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि अथवा शाश्वत सत्य के साक्षात्कार से अभिन्न है) की प्राप्ति का इससे उत्तम उपाय और कोई नहीं है।

संसार का आदर्श स्वरूप

द्रष्टा पदार्थों को देखता है। इसका अर्थ यह हुआ कि द्रष्टा और दृश्य में एक सचेतन एकता है। यह स्वीकार किये बिना कि कण-कण में एक सार्वभौम एकता समान रूप से व्याप्त है, पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान की बात समझ में नहीं आ सकती। दो वस्तुओं में सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता है, जब कोई ऐसी निरपेक्ष सत्ता हो जो दोनों को संयोजित कर सके। प्रत्यक्ष ज्ञान

की प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण करने से इस सत्य का पता चलता है कि द्रष्टा और दृश्य दोनों ही एक सार्वभौम चेतना के रूप हैं।

संसार का जो स्वरूप हम अनुभव करते हैं, वह अलग-अलग व्यक्तियों के मन के भिन्न-भिन्न स्वभावों के अनुरूप होता है। जब हम किसी पदार्थ को भोगते या उसका अनुभव करते हैं, तब हम उस पर कुछ सापेक्ष गुण आरोपित कर देते हैं। उस वस्तु के साथ मन का जो सम्बन्ध होता है, उस पर आधारित कुछ प्रतिक्रियाएँ मन करता है। इसी प्रतिक्रिया की सहायता से उपर्युक्त आरोपण की क्रिया होती है। यह पदार्थ और कुछ नहीं, ईश्वर या सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की अभिव्यक्ति का ब्रह्माण्डीय उपादान (सामग्री) है। इस प्रकार दो प्रकार के संसार हुए—विषय जगत् जिसका सृजन ब्रह्मा का सर्वव्यापक मन करता है और आन्तर जगत् जिसकी सृष्टि व्यक्तियों के मन करते हैं।

दिशा-काल ज्ञेय और ज्ञाता (द्रष्टा) के दृष्टिकोणों से सापेक्ष हैं; उनके निरपेक्ष अर्थ नहीं हैं। जब मन का द्रष्टा-भाव शान्त कर दिया जाता है, तब दिशा और काल का अनुभव नहीं होता। विचारों के सह-अस्तित्व से बने सम्बन्धों से दिशा का बोध होता है। इसी प्रकार विचारों के अनुक्रम से उत्पन्न सम्बन्धों से काल का बोध होता है। स्वयं सह-अस्तित्व तथा अनुक्रम भी विचार हैं। इसलिए व्यक्ति की विचार-प्रक्रिया के रूप में आत्म-परक हो कर तथा ब्रह्मा की महत् इच्छा के रूप में विषयपरक हो कर कार्य करने वाले मन से स्वतन्त्र संसार का कोई अस्तित्व नहीं है। संसार के कालिक (Temporality) तथा त्रिविम (Spatiality) तत्त्व, उसकी नियमितता तथा विषयनिष्ठता उतने ही वास्तविक हैं जितने कि स्वप्नावस्था के (यही) तत्त्व।

जिस प्रकार जाग्रतावस्था अदृश्य हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्म का अनुभव होने के पश्चात् जाग्रतावस्था लुप्त हो जाती है ।

ब्रह्माण्ड की सापेक्षता का अर्थ यह है कि अनेक संसार हैं और संसारों के अन्दर भी बहुत से संसार हैं । ये संसार अन्य संसारों में व्याप्त हो रहे हैं, परन्तु एक संसार को दूसरे के अस्तित्व का ज्ञान नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति अपने ही मन की चिन्तन-प्रक्रिया के घेरे में कैद है, अतः प्रक्रियाओं के किसी विशेष समूह की सीमाओं से बाहर स्थित अन्य संसारों के अस्तित्व का उसे पता नहीं चल सकता । संसारों की सङ्ख्या असीमित है । अनन्तता अनन्तता के अन्दर गतिशील है । परन्तु ये संसार एक ही सामग्री—मन (वैयक्तिक और ब्रह्माण्डीय)—से बने हैं । इनकी अन्तर्वस्तु तथा सङ्घटन अलग-अलग हैं । यद्यपि कुछ संसारों के ये तत्त्व लगभग समान हैं, परन्तु अधिकांशतः उन तत्त्वों में इतना विभेद है कि उन संसारों में बिलकुल अलग-अलग प्रकार के मानवों के रहने की सम्भावना है । हमारे मन की वर्तमान स्थिति उन मानवों की भली प्रकार से कल्पना भी नहीं कर सकती । संसार का विकास ब्रह्म के मन से प्राप्त संवेगों के कारण निरन्तर होता रहता है । व्यक्तियों में भी सृष्टि की प्रक्रिया चलती रहती है, यद्यपि विकृत रूप में तथा ब्रह्मा की मूल सङ्कल्प-शक्ति के बिलकुल विपरीत ।

मृत्यु के बाद का जीवन

जीवन की सापेक्षता से इस तथ्य का पता चलता है कि किसी भी पदार्थ की कामना से सन्तोष नहीं मिल सकता । वस्तुओं

की सापेक्षता का अर्थ है कि किसी भी वस्तुगत रूप के ढाँचे में स्थायित्व नहीं है। अतः प्रत्येक प्रकार की कामना किसी 'असम्भव' को प्राप्त करने के प्रयत्न के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पदार्थों से सन्तुष्टि नहीं मिल सकती, क्योंकि वे स्थायी वस्तुएँ नहीं हैं। वे मात्र स्थितियाँ या अनुभव के सन्दर्भ हैं। शरीर जीवित रहे, इसकी इच्छा इस भ्रम के कारण है कि केवल वैयक्तिकता ही सत्य है। शरीर ही यथार्थता है—इस भ्रान्ति के कारण यह गलत धारणा बन जाती है कि सांसारिक पदार्थ भोगने या विभिन्न प्रकार से उपयोग करने के लिए हैं।

सम्यक् ज्ञान पर आधारित विचारधारा यह है कि संसार और इसकी अन्तर्वस्तु का उपयोग व्यक्ति के स्वार्थों की पूर्ति के साधन के रूप में नहीं करना चाहिए। परन्तु झूठे दर्प के आवेश में व्यक्ति परम सत्ता के कार्यों में हस्तक्षेप करने लगता है और उस (अज्ञानी व्यक्ति) का सत्यानाश हो जाता है। अधूरी कामनाएँ कारण-कार्य-सम्बन्ध द्वारा नियन्त्रित अनेक जन्मों की शृङ्खला के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। शरीर का अवसान वैयक्तिकता के रूप का परिवर्तन है, अतः इससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। यदि मृत्यु का अर्थ स्वयं की गतिविधियों का अन्त हो जाना है, तब मृत्यु का सहर्ष स्वागत करना चाहिए। तब यह जीवन के समस्त दुःखों को एक साथ ही नष्ट कर देगी।

यदि मृत्यु क्रम-विकास की एक प्रक्रिया है, तब भी इसका स्वागत किया जाना चाहिए, क्योंकि पूर्णता प्राप्त करने के लिए आत्मा का क्रम-विकास एक अपेक्षित स्थिति है। शारीरिक मृत्यु से आत्मा की मृत्यु नहीं होती। (मृत्यु के बाद) भौतिक शरीर को छोड़ कर आत्मा (मन, इन्द्रियों और प्राणों से युक्त) आतिवाहक

शरीर के साथ विचरण करती है। मृत्यु के समय की अचेतनता की स्थिति समाप्त होने के बाद कामनाओं से निर्मित आतिवाहक शरीर—सूक्ष्म शरीर—से सज्जित आत्मा जिस संसार में जन्म लेती है, उससे अभिज्ञ हो जाती है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक आत्मा सत्ता-सामान्य (निरपेक्ष, निरुपाधिक सत्) का साक्षात्कार नहीं कर लेती। यह साक्षात्कार मोक्ष है जो शाश्वत सत्ता में नाम-रूप का उत्कर्ष है।

कर्म-सिद्धान्त (जो असत् कर्मों के कारण होने वाली प्रतिक्रियाएँ हैं) के प्रभावी रहने के कारण ही जन्म और मृत्यु होते हैं। स्वार्थपरता परम सत्ता से पृथक्कृत विशिष्टीकृत अस्तित्व का परिणाम है। यद्यपि इस प्रकार का पृथक्करण वास्तव में सम्भव नहीं होता, परन्तु कल्पना इसके अस्तित्व पर विश्वास कर लेती है और व्यक्ति के लिए एक अवास्तविक बन्धन उत्पन्न कर देती है। अतः मोक्ष का अर्थ सही ढङ्ग से पुनर्चिन्तन करना तथा परम सत्ता के साथ स्वयं के अभिन्न होने की चेतना में स्थित रहना है। वैश्व मन (Universal Mentation)—जिसे ब्रह्मा या सृष्टिकर्ता की संज्ञा दी गयी है—की क्रिया के कारण दृश्य जगत् के परम तत्त्व से आविर्भूत हो कर उसी में तिरोभूत हो जाने की प्रक्रियाएँ ही क्रम-विकास (Evolution) तथा अन्त-वलय (Involution) हैं।

परम तत्त्व

परम सत्ता को (तत्त्व) को सही-सही वर्णित करना असम्भव है; क्योंकि सभी प्रकार के वर्णन किसी-न-किसी रूप की अव-

धारणा करते हैं। इससे द्वैत-भावना उत्पन्न होती है जो परम सत्ता का लक्षण नहीं है। हम नहीं कह सकते कि परम सत्ता यह या वह (पदार्थ) है तथा उसका अमुक स्वभाव है। परम सत्ता की प्रत्येक परिभाषा में उसे अयथार्थ प्रकार से एक बाह्य अथवा मूर्त्तरूप दे कर एक 'दूसरा' तत्त्व बना दिया जाता है जिसे जाना-समझा जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार मन किसी वस्तु को सोच-समझ लेता है, उसके विपरीत परम तत्त्व को 'जाना' नहीं जा सकता। उसका एक कामचलाऊ वर्णन यही हो सकता है कि वह सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। वह समरूप (अभिन्न), सत्, चित् तथा आनन्दघन है। यद्यपि वह हर स्थान पर है, परन्तु अदृश्य है, क्योंकि वह पदार्थ नहीं है। वह प्रत्येक प्राणी में सारभूत द्रष्टा या आत्मा के रूप में उपस्थित रहता है। यद्यपि वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का उद्गम है, प्रत्येक वस्तु उसके द्वारा पोषित है तथा सभी वस्तुएँ अन्ततः उसी में लय हो जाती हैं, तथापि वह अत्यन्त सूक्ष्म है।

मोक्ष का साधन

सतत भागवती चेतना ही ब्रह्म-साक्षात्कार अथवा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की चरमावस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करने के प्रयत्न में झूठे तप-त्याग की कोई उपयोगिता नहीं है। यद्यपि साधक को गुरु से मार्ग-निर्देशन प्राप्त हो सकता है; परन्तु आध्यात्मिक जीवन तो स्वयं उसे ही जीना होगा। परम तत्त्व का साक्षात् अनुभव अथवा ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। प्रत्येक वस्तु में ब्रह्माभ्यास (परम तत्त्व की उपस्थिति पर सतत चिन्तन-मनन) करना, केवल उसी के बारे में सोचना, केवल उसी

के बारे में चर्चा करना, केवल उसी के बारे में बोलना, अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए केवल उसी पर निर्भर रहना ही सर्वोच्च साधना है। यही ज्ञान-मार्ग है।

दूसरी विधि योग द्वारा मन पर नियन्त्रण (चित्त-वृत्ति-निरोध) स्थापित करना है तथा प्रत्याहार के द्वारा बाह्य पदार्थों की ओर जाती हुई चित्त-वृत्ति को परम तत्त्व की ओर मोड़ देना। तीसरी विधि है प्राणायाम द्वारा प्राण-शक्ति का नियमन (प्राण-निरोध) करके उच्च स्तरीय ध्यान के लिए मन के क्रिया-कलापों को धीरे-धीरे नियन्त्रित करना।

मोक्ष और ज्ञान के विभिन्न सोपान

सात सोपानों से होता हुआ साधक अपनी ऊर्ध्वमुखी यात्रा पूरी करता है। प्रथम सोपान है शुभेच्छा अर्थात् ज्ञान के सही मार्ग पर बढ़ने की इच्छा। द्वितीय सोपान है विचारणा अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने के मार्गों की तर्कणापरक खोज। तृतीय सोपान है तनुमानसी अर्थात् ध्यानाभ्यास से उपलब्ध सूक्ष्मता के कारण मन का क्षीणन। ये तीन सोपान साधना की शर्तें हैं। चतुर्थ सोपान है सत्त्वापत्ति अर्थात् उच्चतम मानसिक पवित्रता की उपलब्धि के कारण आध्यात्मिक सन्तुलन की अनुभूति। पञ्चम सोपान है असंस्कित अर्थात् सर्वव्यापकता का दिव्य दर्शन होने के कारण दृश्य जगत् या किसी भी प्रकार की विषय-वस्तु से विरक्ति तथा उसके साथ असम्पर्क। षष्ठ सोपान है पदार्थाभावना अर्थात् दैवी सत्ता का साक्षात्कार हो जाने के कारण वैयक्तिकता अथवा भौतिकता का अदर्शन। सप्तम तथा अन्तिम सोपान है तुरीय अर्थात् परम तत्त्व के दिव्यानुभाव की चरम स्थिति। अन्तिम चार सोपान पूर्णता या अनुभूति की शर्तें हैं।

तुरीय को जीवन्मुक्ति भी कहते हैं। इस स्थिति में प्रारब्ध कर्मों के कारण प्राप्त मानव-शरीर में स्थित रहते हुए भी परम पूर्णता का अनुभव प्राप्त होता है। जब प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा शरीर का अन्त हो जाता है, तब जीवन्मुक्त विदेह-मुक्त हो कर शरीर की सीमाओं से परे हो जाता है। जो अपने जीवनकाल में ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, वह धरती की सर्व-श्रेष्ठ आत्मा (महात्मा) है। वह महाकर्त्ता, महाभोक्ता तथा महात्यागी है अर्थात् उसके कार्य, भोग और त्याग भौतिक सीमाओं को पार करके सार्वभौम तथा ब्रह्माण्डव्यापक बन जाते हैं।

‘योगवासिष्ठ’ ग्रन्थ साधना की प्रारम्भिक स्थितियों में स्वाध्याय करने के लिए नहीं है। यह सिद्धों के लिए है, साधकों के लिए नहीं। इस ग्रन्थ में मानव-मन की आवश्यकताओं से सम्बन्धित दिये गये उत्तरों के माध्यम से ही उपदेश दिया गया है। पहले किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करके किसी कहानी के द्वारा उसे (सिद्धान्तों को) स्पष्ट किया जाता है। इस प्रकार मन में उस सिद्धान्त का दर्शन भली प्रकार बैठ जाता है। ग्रन्थकार को पूरा विश्वास है कि दार्शनिक और रहस्यात्मक सत्यों को प्रस्तुत करने की दृष्टि से यह ग्रन्थ अद्वितीय है तथा तत्त्व-मीमांसा, मनोविज्ञान और नीति (आचार) शास्त्र के सभी प्रश्नों के उत्तर इसमें दे दिये गये हैं। इस ग्रन्थ का सतत अध्ययन करने से पाठक का मन परम सत्ता के ज्ञान की सुस्थिर स्थिति में पहुँच जाता है। इस ग्रन्थ की गणना सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक शोधप्रबन्धों में की जाती है।

सप्तम अध्याय

ईश्वरमीमांसा (THEOLOGY)

व्यक्तिगत ईश्वर की आवश्यकता

किसी भी धर्म का सर्वश्रेष्ठ रूप परम तत्त्व का चिन्तन है। इस प्रकार का चिन्तन मन तभी कर सकता है जब उसे उस ब्रह्माण्डव्यापी स्थिति का बोध हो जो जनसाधारण के लिए बोधगम्य नहीं है। सामान्य मानव को ऐसे धर्म की आवश्यकता है जिसे वह दैनिक जीवन में आत्मसात् कर सके। उसके लिए ऐसा ही धार्मिक लक्ष्य उपयोगी होगा जिसे वह अपनी सामान्य भावनाओं की धरती पर समझ के साथ रोपित कर सके। वाल्मीकीय रामायण, महाभारत तथा पुराणों का स्पष्ट उद्देश्य सामान्य मानव को ऐसे धर्म से परिचित कराना है जिसका आचरण वह सरलता से तथा आस्थापूर्वक कर सकता है। उपनिषदों में वर्णित लोकोत्तर सत्ता का मानसदर्शन करना सामान्य मानव के बस की बात नहीं है। सृष्टि में उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ ही उसके लिए बोधगम्य हो सकती हैं। अपनी अभिव्यक्तियों की विभिन्न अवस्थाओं में ब्रह्माण्ड से सम्बद्ध

ईश्वर ही ईश्वरपरक (Theological) उपदेशों तथा पौराणिक विवरणों की विषय-वस्तु है। इन विवरण-उपदेशों का मूल स्रोत वे विषय हैं जिनका वर्णन महाकाव्यों, विशेषकर महाभारत में है।

पुराणों के धर्म-विज्ञान के केन्द्रबिन्दु त्रिमूर्ति परमेश्वर (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), विष्णु के विभिन्न अवतार तथा त्रिमूर्ति परमेश्वर की शक्तियाँ—लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा—हैं।

यद्यपि देवी-देवताओं की उपासना के मूल-स्रोत महाकाव्य (वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत) रहे हैं तथा पुराणों में इसी ईश्वरोपासना के विविध रूपों में धार्मिक पक्ष का विस्तृत विवेचन है; परन्तु महाकाव्यों की देवी-देवताओं-सम्बन्धी धारणा तथा पुराणों में वर्णित उसकी महिमा-स्तुति के आधार एक ही नहीं हैं। महाकाव्यों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश को एक-दूसरे के समकक्ष माना गया है। महाकाव्य-काल के बाद ही उनमें से किसी को छोटा और किसी को बड़ा मानने की धारणा का विकास हुआ। महाकाव्यों का धर्म अधिक उदार तथा गौरव-पूर्ण है। उपनिषदों में वर्णित परम तत्त्व की धारणा से ही उद्भूत धार्मिक विचारधारा के सर्वप्रथम आन्दोलन का नेतृत्व इन्हीं महाकाव्यों ने किया है। सम्भवतः पुराणों की विषय-सामग्री में धार्मिक कट्टरपन्थियों ने बहुत हेर-फेर किया और समय व्यतीत होने के साथ-साथ अनेक सम्प्रदाय तथा मत बन गये और धर्म का नानारूपकरण हो गया। उपनिषदों और महाकाव्यों के विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म के परवर्ती साम्प्रदायिक प्रशासन (पृथक्कृत तथा सङ्घर्षरत देवी-देवताओं के

अनेक मतों के रूप में) के कारण इसका बहुत अपकर्ष हुआ। भारतीय देवी-देवताओं की चर्चा करते समय हम अपने को इस अपकर्ष के पूर्वकालिक तथा इससे भिन्न धार्मिक चिन्तन की विविध अभिव्यक्तियों में निहित धार्मिक आदर्श के वास्तविक सारतत्त्व तक ही सीमित रखेंगे। विश्व के अन्य धर्मों के समान हिन्दू-धर्म के कुछ अपरिपक्व, मतान्ध और कट्टरपन्थी समर्थक धर्मावलम्बियों के हृदयों को एक-दूसरे के निकट ला कर उनमें धार्मिक उत्साह भरने (जो धर्म का मुख्य उद्देश्य है) के स्थान पर सैद्धान्तिक-वैचारिक मतभेद उत्पन्न करने में प्रवृत्त हुए।

नारायण अथवा विष्णु

महाकाव्यों के अनुसार नारायण ही वह आदियुगीन ईश्वर है जिसकी सृजनात्मक इच्छा से ब्रह्माण्ड का निस्सरण हुआ। महाकाव्यों में नारायण का अर्थ है वह दिव्य अस्तित्व जो ब्रह्माण्ड की आदिकालीन स्थिति में प्रलय-पयोधि पर विश्राम करता है तथा व्यक्तियों के जीवन का परम लक्ष्य और आदर्श है। कुछ प्रसङ्गों में इस बात का उल्लेख है कि ईश्वर के ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूपों में विभाजित होने से पूर्व भी नारायण का अस्तित्व था। बाद में नारायण को ही विष्णु कहा जाने लगा। दोनों का यह एकीकरण ही वैष्णवों और शैवों में मतभेद का स्रोत रहा है। वैष्णवों के अनुसार मूल ईश्वर विष्णु है। शैव शिव को मूल ईश्वर मानते हैं। विष्णु और शिव के भक्तों के मध्य मतभेद उत्पन्न करना इन महाकाव्यों का उद्देश्य नहीं रहा होगा। यह मतभेद मूल ईश्वर का नामकरण करने की

धार्मिक ललक का ही एक बिगड़ा हुआ रूप है जो बाद में उभर कर आया ।

उपनिषदों, विशेषकर प्रारम्भिक उपनिषदों में कहीं भी ईश्वर का नामकरण नहीं किया गया है ताकि धर्मावलम्बियों के मन में किसी प्रकार के पक्षपात की भावना उत्पन्न न हो । जब यह देखा गया कि उपनिषदों की ईश्वर-सम्बन्धी अति-उदात्त धारणा जनसाधारण के लिए बोधगम्य नहीं हो पा रही है; तब महाकाव्यों में ईश्वर और मानव के सम्बन्धों को अधिक व्यक्तिगत बनाने का प्रयत्न किया गया ताकि सृष्टिकर्त्ता के प्रति अपनी सीमित भावनाओं के माध्यम से मानव-मन ईश्वर-प्राप्ति के लिए लालायित हो सके । यद्यपि ईश्वर (महत्तत्त्व) के विशिष्टता-वाचक विशेषण के रूप में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग करते हुए, उपनिषदों के ही भावों को ले कर, उन्हीं के स्वर में महाकाव्यों तथा पुराणों में भी ईश्वर की मनसातीत महिमा का गान किया गया है, तथापि सत्य का, जैसा वह है उसी रूप में, प्रतिपादन करने की अपेक्षा धर्म को दैनिक व्यावहारिक जीवन से जोड़ने का प्रयत्न इन ग्रन्थों (महाकाव्यों तथा पुराणों) में अधिक किया गया है । इनमें परम सत्ता को ब्रह्म के अतिरिक्त ईश्वर, परमात्मा, पुरुष, भगवान् आदि नामों से भी पुकारा गया है । अतः उस सत्ता को नारायण की संज्ञा देते समय यह भाव नहीं था कि यदि उसे शिव के नाम से पुकारा जायेगा तो दोनों नामों में परस्पर किसी प्रकार का विरोध होगा ।

ईश्वर-सम्बन्धी धारणा के स्थूल मानवीकरण तथा ईश्वर के आदर्श स्वरूप को एक मानवीकृत ईश्वर के निचले स्तर तक ले

आने के कारण धार्मिक नीतियों तथा धर्माचरण में कट्टरपन्थी भेद उत्पन्न हो गये। इस मानवीकृत ईश्वर को उत्साही भक्तगण राष्ट्र, समुदाय, यहाँ तक कि अकेले परिवार की सीमाओं में आवद्ध अपनी पवित्र इच्छाओं की पूर्ति का उपकरण मानने के लिए उत्सुक थे। इस प्रकार धर्म सङ्कीर्ण निजी धारणाओं तथा साम्प्रदायिक पन्थों का रूप बन कर रह गया। इस कारण अनेक युद्ध भी हुए। इन युद्धों की धार्मिक आदर्शों से उतनी ही दूरी है जितनी कि उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों में। 'नारायण' परम सृष्टिकर्त्ता का निर्देश कराने वाला एक निष्पक्ष शब्द है। नारायण का नाम ब्रह्मा, विष्णु और शिव के आविर्भाव से पूर्व का है तथा उनसे महत्त्व में बड़ा है। इसका विशिष्टीकृत वैष्णवमत से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रीमद्भगवत् में ईश्वर का जो वर्णन है, उसमें इस उदार दृष्टिकोण का पता चलता है। कुछ पुराणों में ईश्वर को 'परम शिव' की संज्ञा दी गयी है। संसार के पालन-पोषण के लिए परम सत्ता ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में प्रकट होती है। ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, विष्णु पालन करते हैं तथा रुद्र के रूप में शिव अन्त में प्रत्येक वस्तु को नष्ट कर देते हैं। वेद के पुरुष-सूक्त में इन्हीं सर्वश्रेष्ठ नारायण की स्तुति की गयी है।

लक्ष्मीपति विष्णु का निवासस्थान वैकुण्ठ में है। विष्णुपुराण के अनुसार लक्ष्मी तथा नारायण अविच्छेद्य सत्ता (तत्त्व) हैं। दोनों परस्पर अभिन्न हैं। एक प्रकार से नारायण की शक्ति के रूप में लक्ष्मी उनमें अन्तर्भूत हैं। वे महाशेष—जो सम्पूर्ण धरती के आधार हैं—पर विश्राम करते हैं। वैकुण्ठ क्षीरसागर में स्थित है। विष्णु के अस्त्र हैं सुदर्शन-चक्र, कौमोदकी गदा, सारङ्ग

धनुष तथा नन्दक तलवार । उनके शस्त्र को पाञ्चजन्य कहते हैं । उनके हथियार अस्त्र हैं तथा सांसारिक साधारण हथियारों, जिन्हें शस्त्र कहा जाता है, से भिन्न हैं । वे अस्त्र असाधारण रहस्यात्मक शक्तियाँ ही हैं । वे सामान्य भौतिक उपकरण या यन्त्र नहीं हैं । वे मात्र विचार या इच्छा करने से ही कार्य करने लगते हैं । गरुड़ पक्षी विष्णु का वाहन है । समय-समय पर धर्म की संस्थापना के लिए, प्रत्येक प्राणी के कल्याण हेतु ब्रह्माण्ड-पालक के रूप में वे अवतार लेते रहते हैं । उनकी नाभि से, जिसका एक वृहदाकार कमल के रूप में वर्णन किया गया है, ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई ।

पञ्चरात्र सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर का पाँच रूपों में प्रकटीकरण हुआ है । ये रूप हैं : परा (उनके ज्ञानातीत-अनु-भवातीत अस्तित्व का परम रूप); व्यूह (वासुदेव, सङ्कषर्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध नामक उनके रूपों का समूह—इन रूपों की तुलना क्रमशः ब्रह्माण्ड-चेतना, ब्रह्माण्ड-बुद्धि, ब्रह्माण्ड-मन तथा ब्रह्माण्ड-अहं से की जा सकती है); विभव (उनके अवतारों के माध्यम से प्रकट होने वाली उनकी महिमा); अर्चा (भक्तों द्वारा पूजी जाने वाली उनकी मूर्तियों में व्यक्त उनकी उपस्थिति) तथा अन्तर्यामिन् (ब्रह्माण्ड में उनकी सर्वव्यापी उपस्थिति) ।

विष्णु के अनेक अवतार हैं । श्रीमद्भागवत में कम-से-कम बाईस अवतारों के नामों का उल्लेख है । इनमें दश अवतार मुख्य हैं जिन्हें दशावतार कहते हैं । जैसा कि भगवद्गीता में उन्होंने घोषणा की है, जब-जब धर्म की अवनति होती है, तब-तब सज्जनों की रक्षा करने तथा दुष्टों का विनाश करने के लिए

वे धरती पर अवतरित होते हैं। समय और अवसर के अनुकूल रूपों में अवतरित हो कर वे न्याय और सत्य की संस्थापना करते हैं। कुछ अवतार पूर्णावतार (दैवत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति) कहलाते हैं; कुछ को अंशावतार या कलावतार (दैवत्व की आंशिक अभिव्यक्ति) कहते हैं। भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण पूर्णावतार अर्थात् ईश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति थे।

विष्णु के उन अवतारों में, जिनकी चर्चा दशावतारों के अन्तर्गत नहीं है, नारायण तथा नर के रूपों में उनके आविर्भाव का यहाँ विशेष रूप से उल्लेख करना उचित होगा। ऐसा कहा जाता है कि नारायण और नर ही विश्व-कल्याणार्थ क्रमशः कृष्ण और अर्जुन के रूपों में इस धरती पर दोबारा आये थे। महाकाव्यों और पुराणों में नारायण और नर की आध्यात्मिक शक्तियों और महिमा की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। महाभारत के अनुसार उनकी महिमा तथा कान्ति ने ब्रह्मा की महानता को भी आच्छादित कर लिया। वे (नारायण तथा नर) अग्नि की तरह उद्दीप्त रहते हैं और सम्पूर्ण सृष्टि में अपराजेय हैं। वे सूर्य की तरह प्रदीप्त हैं, वायु की तरह शक्तिशाली हैं, अग्नि की तरह द्युतिमान हैं तथा चन्द्रमा के समान सुन्दर हैं। महाकाव्यों में लिखा है कि उनकी दीप्ति से सम्पूर्ण पृथ्वी और स्वर्गलोक प्रकाशित हैं। उनकी शक्ति के बारे में आंशिक रूप से तब पता चला जब राजा दम्भोद्भव ने उन्हें युद्ध के लिए ललकारा था और इन्द्र ने अपने परिजनों समेत उन्हें उनकी तपश्चर्या से विचलित करने का प्रयत्न किया था। तब उन्होंने दम्भोद्भव का मानमर्दन करके उसे बुरी तरह से पराजित कर दिया था और इन्द्र को लज्जा से अपना शिर झुका लेना पड़ा था।

मनवन्तर के अन्त में जलप्रलय की विनाशलीला से मनु तथा सात मुनियों तथा वेदों की रक्षा करने के लिए भगवान् मत्स्य के रूप में अवतरित (मत्स्यावतार) हुए थे। प्रलय के समय ब्रह्माण्ड-सागर में खोये हुए स्वर्गीय अमृत तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं (रत्नों) को निकालने हेतु, मन्दर-पर्वत की मथानी से जब सागर-मन्थन किया गया था, उस समय कछुए के रूप में अवतार ले कर विष्णु ने पर्वत को अपनी पीठ पर धारण किया था। वराह का अवतार ले कर विष्णु ने हिरण्याक्ष राक्षस का वध किया था तथा ब्रह्माण्ड-सागर में डूबी धरती को ऊपर निकाल लिया था।

नरसिंह के रूप में अवतरित हो कर विष्णु ने हिरण्यकशिपु का संहार किया था। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से यह वरदान प्राप्त किया था कि वह देवता, नर, पशु—किसी के द्वारा भी रात में या दिन में किसी भी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र से न मारा जा सके। दुर्भाग्य से नरसिंह न तो नर थे और न पशु। उनका शिर सिंह का था तथा शेष शरीर मानव का। उन्होंने किसी प्रकार के हथियार से नहीं वरन् अपने नाखूनों से हिरण्यकशिपु को फाड़ डाला। यह कार्य उन्होंने झुटपुटे में किया, जब न दिन था और न रात्रि थी। बिजली की कड़क के समान ध्वनि करते हुए विष्णु एक खम्भे को तोड़ते हुए उसके अन्दर से नरसिंह के रूप में निकले और उसका वध कर डाला। इस प्रकार उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वे भौतिक पदार्थों में भी व्याप्त हैं। वैशाख मास में शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को नरसिंह-रूप में विष्णु प्रकट हुए थे। प्रत्येक वर्ष इस दिन नरसिंह-जयन्ती मनायी जाती है।

वामन-रूप में अवतरित हो कर विष्णु ने पूरी धरती को अपने तीन डगों से नाप डाला था तथा असुरों के राजा बलि को पाताललोक भेज दिया था। परशुराम (परशु लिये हुए राम) के रूप में विष्णु ने अवतार ले कर उन उद्धत क्षत्रियों का नाश किया था जो सदाचरण तथा शालीनता की सीमाओं का अतिक्रमण करके धर्म तथा न्याय के शत्रु बन गये थे। इक्कीस बार उन्होंने समूची धरती के समस्त क्षत्रियों का अपने अजेय परशु से नाश किया। राम के रूप में विष्णु ने धरती पर धर्म का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया।

वाल्मीकीय रामायण की विषय-सामग्री राम की गौरवमय गाथा है। दशरथनन्दन राम समस्त सद्गुणों के चरम रूपों के प्रतीक तथा सत् (उत्तमता) के प्रत्येक मनोगम्य गुण के आदर्श बन गये। वाल्मीकि ने अपनी इस काव्यकृति में राम को शक्ति, आत्म-संयम, साहस, विवेक, भावाभिव्यक्ति की क्षमता, अत्युत्तम आचरण के भण्डार तथा धर्म-रक्षक, सर्व-रक्षक, कलाविद्, शास्त्रज्ञ, समुद्र के समान भव्य, हिमालय के समान प्रतापी, क्रोध के समय विश्व को भस्म कर देने वाली अग्नि और पृथ्वी के समान क्षमाशील के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्नत वक्ष, गोल शिर, मनोहर ललाट, सुडौल अङ्ग, बड़ी-बड़ी आँखों वाले, आकर्षक वर्ण के, आजानबाहु तथा अत्यन्त सुन्दर—यह चित्र है वाल्मीकि के राम का। उनके धनुष को कोदण्ड कहते हैं। उनके तीरों का निशाना कभी चूकता नहीं; इसीलिए 'राम-बाण' अमोघ अस्त्र-सन्धान का पर्याय बन गया है।

दशरथ की सबसे छोटी रानी कँकेयी के कारण ही राम का

राज्याभिषेक नहीं हो पाया तथा वे पिता के वचन का निर्वाह करते हुए आज्ञाकारी पुत्र की तरह वनवास करने हेतु चले गये। उनका अनुगमन किया उनकी पत्नी सीता सथा अनुज लक्ष्मण ने। वन-प्रवास-काल में ही राम ने राक्षसों से युद्ध किया। ये राक्षस, जिनका मुखिया रावण था, ऋषियों के शान्तिमय जीवन में बाधक थे। जङ्गल में सीता को अकेली पा कर रावण ने उनका हरण किया। सीता को रावण से मुक्त कराने के लिए राम ने सुग्रीव से मित्रता की। सुग्रीव भी अपने भाई बालि के कारण पत्नी-विहीन और उससे पराजित हो गया था। राम ने बालि को मार कर सुग्रीव की सहायता की ताकि वह सीता की खोज में सहायक हो सके। राम-रावण-युद्ध हुआ। सीता मुक्त हुई।

रामायण के नायकों में राम के बाद सुग्रीव के मन्त्री हनुमान् का स्थान है। हनुमान् की शक्ति घर-घर में चर्चा का विषय बन गयी है। समुद्र लांघ कर रावण की राजधानी लङ्का में पहुँचने तथा सुरसा के सामने अपने को वृहदाकार बना लेने का रोमाञ्चकारी वर्णन वाल्मीकीय रामायण में है। लङ्का में अपने जिस पराक्रम का परिचय उन्होंने दिया; उनकी जिस वीरता को देखकर निर्भीक रावण भी भयभीत हो गया; उनकी निस्स्वार्थता, सेवा-भाव, आत्म-नियन्त्रण, बुद्धिमानी—इन सबके कारण वे (हनुमान्) भारत के अमर सपूत बन गये हैं। आज भी अनगिनत भक्त उनकी महिमा का गान करते हैं। उन्हें चिरञ्जीवी माना जाता है अर्थात् संसार का अन्त होने तक वे जीवित रहेंगे।

राम द्वारा रावण का बध हुआ, राम-रावण-युद्ध समाप्त हुआ, सीता मुक्त हुई। राम अयोध्या लौटे और वहाँ उनका राज्याभिषेक हुआ। राम के आदर्श शासन को 'राम-राज्य' कहा

जाता है। वाल्मीकि के अनुसार राम के शासन-काल में किसी स्त्री को वैधव्य का दुःख नहीं भोगना पड़ता था; जङ्गली पशुओं का भय नहीं था; रोग नहीं थे; दुष्टजन किसी को पीड़ित नहीं कर पाते थे; बाल-मृत्यु नहीं होती थी; किसी प्रकार की विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ता था तथा सर्वत्र प्रसन्नता व्याप्त थी। इसका एकमात्र कारण था समूची पृथ्वी पर धर्म का राज्य। राम-राज्य में पारस्परिक शत्रुता नाम मात्र को भी नहीं थी। कोई दुःखी नहीं था। प्रत्येक स्थान पर राम का गुण-गान होता था। शासक के रूप में राम का नाम सारे देश में व्याप्त हो गया था। राम के रूप में विष्णु का अवतार इसलिए हुआ था ताकि मानवता के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत हो सके तथा मानवता यह जान सके कि सामाजिक जीवन व्यतीत करते हुए भी आध्यात्मिक, नैतिक, बौद्धिक तथा भौतिक पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। राम का जन्मोत्सव प्रति वर्ष चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी को 'रामनवमी' पर्व के रूप में मनाया जाता है।

सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि विष्णु ने राम के रूप में मानवीय पूर्णता का प्रदर्शन करने के लिए अवतार लिया था तथा कृष्ण के रूप में उन्होंने दिव्य पूर्णता का प्रदर्शन किया। इन दोनों अवतारों ने जिस-जिस आदर्श और व्यवहार की शिक्षा दी, उनमें सुस्पष्ट अन्तर है। राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं। उन्होंने अनुशासन, चरित्र, सदाचार तथा कानून के आदर्श प्रस्तुत किये। कृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं। उन्होंने मरण-शील प्राणियों के संसार में अपनी अत्युत्तम, अनुभवातीत, मनसातीत वैभव, महिमा और पूर्णता की दिव्य लीला की।

पाप और बुराई से संसार को मुक्ति दिलाने के लिए नारायण और नर ने (क्रमशः) कृष्ण और अर्जुन के रूप में जन्म लिया। ऐसा माना जाता है कि नारायण और नर बदरिकाश्रम (आधुनिक बदरीनाथ) के मन्दिर में शाश्वत तपस्या कर रहे हैं तथा वे धरती पर विष्णु की उपस्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं। कृष्ण विष्णु के पूर्णावतार हैं। कुछ लोग उन्हें ब्रह्मा, विष्णु और शिव से भी श्रेष्ठ सर्वव्यापक नारायण का पूर्णावतार मानते हैं। वे वसुदेव और देवकी के पुत्र के रूप में मथुरा में प्रकट हुए। उनकी अनगिनत अद्भुत बाललीलाओं—उनके जन्म के समय बन्दी वसुदेव और देवकी की कारागार-कोठरी का फाटक स्वतः ही खुल जाना; शिर पर शिशु कृष्ण को रख कर वसुदेव द्वारा यमुना पार करते समय उनका (कृष्ण का) चरण-स्पर्श करने के लिए (जल-स्तर) का ऊपर उठना; पूतना, शकट, तूणावतं, वत्स, धेनुक, बक, अद्य, प्रलम्ब, केशी, चाणूर तथा कंस का (कृष्ण द्वारा) बध; शाप के कारण वृक्ष बने हुए कुबेर-पुत्रों की मुक्ति; खोये हुए सहस्रों ग्वालों तथा गाय-बछड़ों के स्थान पर कृष्ण द्वारा उनका रूप रख कर उनकी ही तरह कार्य-कलाप करना, कालिय-मर्दन; दावानल-पान; गोवर्धन-धारण तथा इन्द्र का मान-मर्दन; सन्दीपनी के मृत पुत्रों को वापस लाना तथा उनकी दिव्यता को व्यक्त करने वाली इसी तरह की अनेक अन्य घटनाओं—को विस्तार से प्रस्तुत करने की आवश्यकता यहाँ नहीं है।

कृष्ण के बाल्यकाल की सर्वाधिक भ्रामक तथा महत्त्वपूर्ण घटना है रासलीला (अर्थात् वृन्दावन की गोपियों के साथ उनका प्रेम-नृत्य)। प्रेमपगी गोपियों द्वारा कृष्ण की और प्रेममय कृष्ण

द्वारा गोपियों की खोज एक ऐसी क्रीड़ा है जिसे साधारण मानव-मन समझ नहीं पाता। टीकाकारों ने इस क्रीड़ा को कई तरह से समझाने का प्रयत्न किया है। कुछ के अनुसार यह सांसारिक जीवों द्वारा उस ब्रह्माण्डव्यापी परम कर्त्ता की खोज है जो उनकी आत्मा के रूप में उपस्थित रहता है। कुछ व्याख्याकार कहते हैं कि यह हर्षोन्माद की ऐसी स्थिति में व्यक्ति द्वारा परमतत्त्व की खोज है जिसे बुद्धि न समझ सकती है और न उसका मूल्याङ्कन कर सकती है। यह भगवद्भक्तिजनित भाव-समाधि की ऐसी अवस्था है जिसमें बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है। अथवा यह रासलीला भगवान् की दिव्य प्रतिक्रिया स्वरूप उनकी सर्वव्यापकता का बहुल रूपों में प्रकटीकरण-ब्रह्माण्डव्यापी आत्माभिव्यक्ति—है। अथवा यह प्रेम-लीला एक ऐसी आध्यात्मिक परम चेतना की अवस्था है जिसमें जीव अपने व्यक्तित्व को भूल कर कण-कण में भगवान् को देखने लगता है। यह एक ऐसा प्रेमोन्माद होता है जिसके सागर में वैयक्तिकता का बुलबुला फूट जाता है। ठीक यही स्थिति गोपियों की थी। इस अनश्वर रास-नृत्य में काम-वासना लेशमात्र भी नहीं थी। उस समय कृष्ण बालक ही थे तथा बहुत बड़ी सङ्ख्या में उपस्थित वयस्क महिलाओं (गोपियों) के मन में कामुकता कैसे उत्पन्न कर सकते थे ?

एक दूसरी व्याख्या के अनुसार यद्यपि कृष्ण भौतिक चक्षुओं से एक बालक के समान दिखायी देते थे; परन्तु गोपियों को वे एक आकर्षक नवयुवक की तरह दिखायी देते थे। प्रत्येक गोपी उन्हें अपने ही पास देखती थी। अपनी योगशक्ति से उन्होंने अपने एक रूप को बहुल रूपों में परिवर्तित कर लिया था।

एक बार परीक्षित ने इस बारे में अपनी शङ्का व्यक्त की। तब शुक ने कहा—'ईश्वर ने मानव-रूप में इसलिए अवतार लिया ताकि वह अपने सम्पर्क में आये हुए प्राणियों पर कृपा की वर्षा कर सकें तथा अपने (ईश्वर के) कार्यों तथा जीवन की महत्ता में आस्था रखने वाले प्राणियों में भक्ति-भाव उत्पन्न कर सकें।' यह आश्चर्य की बात है कि रास के समय में भी भगवद्-शक्ति से गोपियों के पतियों ने सदैव अपनी पत्नियों को अपने पास ही पाया। फिर मूल्यों का मानवीय मूल्याङ्कन यहाँ कैसे लागू हो सकता है? शुक कहते हैं कि अपने पर नियन्त्रण प्राप्त करने तथा कामनाओं को विजित करने के लिए तथा कामुकता-रोग की औषधि के रूप में रास से सम्बन्धित अध्यायों का पाठ करना चाहिए।

कृष्ण के बाल्यकाल की घटनाएँ ईश्वर से मिलने के प्रति उत्कण्ठा तथा भगवद्भक्ति की मधुर-कोमल भावनाओं अथवा भगवान् के माधुर्य में स्वयं को विलीन कर देने की आकांक्षा (माधुर्य-भक्ति) को उद्दीप्त करती हैं। उनका बाद का जीवन मानवीय क्रम-विकास में एक नवीन अध्याय जोड़ता है और मन में ऐश्वर्य-भक्ति (अर्थात् उनकी शक्ति-ज्ञान की महिमा के अत्यन्त सम्मोहक आकर्षण से उत्पन्न भक्ति-भाव) की भावना उत्पन्न करता है।

अपने बाल-किशोर रूपों में कृष्ण ने जो लीलाएँ कीं, उनका अन्त कंस-वध से हुआ। फिर कृष्ण ने जीवन के प्रति गम्भीर दृष्टिकोण अपनाया तथा वे संसार को दुष्टता के समस्त स्रोतों से मुक्त करने में जुट गये। कृष्ण को अपने जिस प्रबल विरोधी का सामना पहली बार करना पड़ा, वह था रुद्र-भक्त

मगध का राजा जरासन्ध जो सात्त्विक स्वभाव के सभी व्यक्तियों के लिए सङ्कट का मूर्त्त रूप था। जरासन्ध ने मथुरा पर बार-बार आक्रमण किया। जब कृष्ण उसकी दुष्टता से तङ्ग आ गये, तब उन्होंने और उनके भाई बलराम ने उसकी सेना को खदेड़ दिया। उन्होंने जान-बूझ कर जरासन्ध का वध नहीं किया ताकि उसे और सेना एकत्र करने का अवसर मिल सके और उसका (सेना का) भी नाश किया जा सके। इस उद्देश्य से कृष्ण ने विष्णु के स्वर्ग से उतरे हुए अस्त्र धारण किये। शस्त्रों के साथ एक स्वर्गीय रथ भी मँगाया गया जिस पर बैठ कर उन्होंने जरासन्ध से युद्ध किया।

भावी उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उन्होंने विश्व के सर्वश्रेष्ठ राजनेता तथा सर्वश्रेष्ठ योगी की भूमिकाओं का निर्वाह किया। राजनैतिक युक्तियों तथा आध्यात्मिक आदेशों के समन्वित रूपों से बनी अपनी कार्य-योजना को क्रियान्वित करने के लिए उन्होंने भारत के पश्चिमी तट पर द्वारका में एक दुर्भेद्य तथा शानदार किले का निर्माण कराया। द्वारकाधीश बन कर वे जन-जन के भाग्य के निर्णायक बन गये। फिर उन्हें पाण्डवों का स्मरण हो आया। उनकी खोज-खबर लेने के लिए उन्होंने अक्रूर को हस्तिनापुर भेजा।

पाण्डवों से कृष्ण की पहली भेंट द्रुपद के प्रासाद में द्रौपदी के विवाह के अवसर पर हुई थी। विवाहोपरान्त कृष्ण ने अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए उन्हें बहुमूल्य उपहार दिये। जब युधिष्ठिर ने राजसूय-यज्ञ करने की इच्छा व्यक्त की तब कृष्ण ने कहा कि जरासन्ध इस कार्य में सर्वाधिक बाधक सिद्ध होगा। फिर भीम से व्यक्तिगत मन्त्रणा करके उन्होंने जरासन्ध से मुक्ति

पाने को योजना बना ली। युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ के अवसर पर कृष्ण ने अपने सुदर्शनचक्र से शिशुपाल का शिर काट डाला। माघकृत 'शिशुपाल-वध' काव्य में इसी घटना को प्रस्तुत किया गया है। यह घटना महाभारत-युद्ध की महत्तर तथा अधिक पेचीदी घटनाओं की पृष्ठभूमि है।

राजसूय-यज्ञ के अवसर पर कृष्ण ने सम्मानपूर्ण कार्यों का भार तो अन्य राजाओं को सौंपा, परन्तु उन्होंने स्वयं अभ्यागतों के चरण-प्रक्षालन तथा भोज के उपरान्त जूठी पत्तलें उठाने के साधारण कार्य सम्पन्न किये। भीष्म ने कृष्ण के दिव्य रूप की सार्वजनिक रूप से घोषणा की। शिशुपाल को यह अच्छा नहीं लगा तथा उसने अपशब्दों का प्रयोग करते हुए कृष्ण को युद्ध के लिए ललकारा।

पाण्डवों के निर्वासन-काल में कृष्ण उनसे समय-समय पर मिला करते तथा उन्हें सान्त्वना दिया करते थे। उन्हें इस बात का वचन भी देते थे कि उनके शत्रुओं को पराजित करके वह उन्हें उनका राज्य वापस दिला देंगे। कौरवों की सभा में निर्वस्त्र की जा रही द्रौपदी की लाज रखने तथा जङ्गल में द्रौपदी के सामने अचानक प्रकट हो कर और उनसे थोड़ा-सा भोजन माँग कर खा लेने से दुर्वासा तथा उनके साथ के बहुत से मुनियों का पेट भर जाने से सम्बन्धित घटनाएँ सबको विदित ही हैं। पाण्डवों की निर्वासन-अवधि समाप्त होने के पश्चात् कौरवों से युद्ध करने की बात पर विचार-विमर्श करने के लिए कृष्ण ने विराट के दरबार में एक सभा बुलायी। एक चतुर राजनेता की तरह कृष्ण ने कौरवों के पास शान्ति-प्रस्ताव ले कर जाना स्वीकार कर लिया, यद्यपि वह स्वयं जानते थे कि इससे कोई

लाभ नहीं होगा। उन्होंने युधिष्ठिर को बता दिया था कि उनकी यह कार्यवाही अनावश्यक और निरर्थक है तथा मात्र एक कूट-नीतिक चाल से अधिक नहीं है।

जब कृष्ण शान्ति-प्रस्ताव ले कर कौरवों के पास जाने को तत्पर हुए तो युधिष्ठिर को इस बात की शङ्का हुई कि कौरव उनका अहित कर सकते हैं। तब कृष्ण ने यह कह कर अपनी शक्तियों का प्रकटन किया था कि यदि सचमुच ऐसा हुआ तो वे कौरवों का नाश करने के लिए युद्ध की प्रतीक्षा नहीं करेंगे। वे अकेले ही उन्हें भस्म करके युधिष्ठिर का भार हलका कर देंगे। धृतराष्ट्र के समक्ष दरबार में सञ्जय ने कृष्ण का जो वर्णन प्रस्तुत किया था, वह उनकी दिव्यता की सार्वजनिक उद्घोषणा है। धृतराष्ट्र के दरबार में कृष्ण का शान्ति-प्रस्ताव, सभा के सम्मुख उनके द्वारा किया गया प्रसिद्ध भाषण तथा कौरवों के समक्ष उनके द्वारा दिखाया गया अपना विलक्षण ब्रह्माण्डीय स्वरूप—ये सभी घटनाएँ किसी नाटक के आश्चर्य-चकित कर देने वाले दृश्यों के समान हैं।

और, एक दूसरा महत्वपूर्ण दृश्य है महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ में भगवद्गीता के रूप में कृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश। गीता की विषय-सामग्री पर चतुर्थ अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। चक्र ले कर भीष्म के पास जाना; दृष्टिपात करके कौरवों की सेना को सम्मोहित कर देना; रणक्षेत्र में सभी सैनिक कृष्ण और अर्जुन की तरह दिखायी दें—ऐसा चमत्कार करके कौरवों की सेना को भ्रमित कर देना; अर्जुन द्वारा संसप्तकों को पराजित कराने हेतु अर्जुन की अपने चातुर्य द्वारा सहायता करना; अपनी

बुद्धि की सहायता से अपराजेय भगदत्त का विनाश करना; जयद्रथ को पराभूत करने के लिए अपनी योग-शक्ति का उपयोग करना; अपनी चाल द्वारा कर्ण की शक्ति को विफल कर देना तथा साथ-ही-साथ राक्षसीवृत्ति वाले घटोत्कच से मुक्ति पाना; अश्वत्थामा के नारायण-अस्त्र से पाण्डवों की रक्षा करना; पाण्डवों के हित में धर्म की विजय के लिए रुद्र का आह्वान करना; अर्जुन को मार देने के लिए प्रयुक्त कर्ण के अस्त्र-शस्त्रों को विफल कर देना; भीष्म और द्रोण के अस्त्रों द्वारा अर्जुन का रथ भस्म हो जाने के कारण अर्जुन की अग्नि से रक्षा करना; दुर्योधन-वध के समय अपनी सामान्य (सहज) बुद्धि का उपयोग करना; अश्वत्थामा के क्रूर हाथों द्वारा वध किये जाने से पाण्डवों को बचाने हेतु रहस्यात्मक निर्देश देना; उत्तरा के गर्भ को नष्ट होने से बचाना; धृतराष्ट्र के आलिङ्गन में कस कर मरने से भीम को बचाने के लिए अपनी बुद्धि और समझ का प्रयोग करना—कृष्ण से सम्बन्धित ये अत्यधिक रोचक तथा शिक्षाप्रद घटनाएँ हैं जो महा-भारत में वर्णित हैं।

अपने जीवन-काल में उन्होंने चार बार अपने (वैश्व) ब्रह्माण्ड-व्यापक रूप को दिखाया था—पहली बार अपनी माता यशोदा को; दूसरी बार कौरवों के दरबार में; तीसरी बार महा-भारत-युद्ध के प्रारम्भ से पूर्व अर्जुन को और चौथी बार उत्तङ्क ऋषि को। भागवत और महाभारत में लिपिबद्ध कृष्ण को सम्बोधित कुन्ती और भीष्म द्वारा की गयी प्रार्थनाएँ मात्र साहित्यिक लालित्य के कारण ही नहीं, वरन् कृष्ण के रूप में अवतरित ईश्वर का महिमागान होने के कारण भी अत्यन्त भव्य हैं।

हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण तथा भागवत में कृष्ण के व्यक्तिगत जीवन की बहुत-सी घटनाएँ वर्णित हैं। ये ग्रन्थ आध्यात्मिक प्रेरणा के स्रोत तो हैं ही, इनमें एक ऐसे महापुरुष की प्रेरणादायक जीवनी प्रस्तुत की गयी है जो संसार के लिए सर्वतोमुखी पूर्णता से युक्त चरित्र का मूर्तरूप है। कृष्ण का आविर्भाव-दिवस प्रतिवर्ष भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि को कृष्णजन्माष्टमी-पर्व के रूप में मनाया जाता है।

कृष्ण-अवतार का उद्देश्य न केवल अधर्म का नाश करना था, वरन् संसार के समक्ष ईश्वर की महत्ता तथा महिमा को प्रकट करना भी था। कृष्ण के जीवन के भली प्रकार समायोजित समग्र चरित्र में परम तत्त्व परमेश्वर की विभूति के दर्शन होते हैं।

दशावतारों में अन्तिम दो अवतार बुद्धावतार तथा कल्कि-अवतार हैं। ऐसा माना जाता है कि राजा शुद्धोदन के पुत्र (शाक्य राजकुमार) गौतम (बुद्ध) का जन्म ही बुद्धावतार है। इतिहासकारों का मत है कि बुद्ध को विष्णु का अवतार स्वीकार करके हिन्दू-धर्म ने बौद्ध-धर्म को अपने में मिलाना चाहा है। परन्तु एक दूसरे रूढ़िवादी मत के अनुसार बुद्ध, जो विष्णु के अवतार थे, गौतम बुद्ध से भिन्न व्यक्ति थे तथा वे इस धरती पर धर्म की संस्थापना करने हेतु असुरों को पराजित करने की दृष्टि से उन्हें छलने के लिए आये थे।

कल्कि-अवतार भविष्य में होगा। यह अवतार ईश्वर की दोष-निवारक-शक्ति के रूप में कलियुग के अन्त में अधर्म का विनाश करने के लिए उस समय होगा जब यह (अधर्म) अपनी

चरम सीमा पर पहुँच कर असहनीय बन चुका होगा। ऐसा कहा जाता है कि एक सफेद घोड़े पर सवार हो कर चमचमाती हुई तलवार को हिलाते हुए कल्कि प्रकट होंगे। वे दुष्टों का नाश करेंगे तथा दिव्यता, न्यायप्रियता तथा साधुता के गुणों से युक्त जनों की रक्षा करेंगे। इस प्रकार वे संसार में एक बार कृतयुग को पुनः प्रतिष्ठापित करेंगे।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त और विष्णुसूक्त, महाभारत, हरिवंश-पुराण, विष्णु से सम्बन्धित छहों पुराणों, त्रिपादविभूति-महानारायण उपनिषद्, वैष्णव आगमों तथा वैष्णव सम्प्रदाय के साधु-सन्तों के गीतों में नारायण अथवा विष्णु की महिमा का गान किया गया है।

शिव

शिव या रुद्र त्रिदेवों में से एक हैं। वे ब्रह्माण्ड के परमोपकारी देव हैं। वे अपनी पत्नी पार्वती तथा अपनी सन्तानों—गणेश तथा स्कन्द—के साथ कैलास पर्वत पर निवास करते हैं। उनका वाहन नन्दी है। उनके तीन नेत्र हैं जो सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि का प्रतिनिधित्व करते हैं। अग्नि का प्रतिनिधित्व करने वाला तृतीय नेत्र अधिकतर बन्द रहता है। वस्तुओं का विनाश करते समय शिव अपने (इस तृतीय नेत्र) को खोलते हैं। वे जटाएँ धारण करते हैं। उन्होंने अपने शिर में गङ्गा को तथा भाल में बाल-चन्द्र को धारण कर रखा है। उनके हाथ में त्रिशूल रहता है। वे अपने शरीर में भस्म लगाये रहते हैं। वे शिर, ग्रीवा तथा बाहुओं को सर्पों से सज्जित रखते हैं। समुद्र-मन्थन के परि-

णामस्वरूप निकले हुए विष का पान करने के कारण उनका कण्ठ नीला पड़ गया है। वे चीते का चर्म (बाघम्बर) पहनते हैं। कभी-कभी हाथी का चर्म (गजचर्म) भी धारण करते हैं। उनके घनुष का नाम 'आजगव' है। उनका मुख्य अस्त्र 'पाशुपत' है। समस्त ब्रह्माण्ड का उपकार करने हेतु वे सदैव ध्यानमग्न रहते हैं तथा योगीश्वर कहलाते हैं।

यजुर्वेद के रुद्र अध्याय अथवा शतसद्रिय के नमक तथा चमक विभाग में उनकी सर्वव्यापी दिव्य उपस्थिति का वर्णन है। वे मृत्युञ्जय (मृत्यु को विजित करने वाले) कहलाते हैं तथा उनके भक्त सर्वप्रकार के विघ्नों से मुक्ति पाने हेतु उनकी उपासना करते हैं। प्रलय के समय वे ताण्डव-नृत्य करते हैं। ताण्डव एक भयानक नृत्य है जिसकी लय-ताल बड़ी प्रचण्ड होती है। इस नृत्य का अवश्यम्भावी परिणाम होता है प्रत्येक स्थान पर मृत्यु और सर्वनाश की विभीषिका। नर्तक के रूप में शिव नटराज (अर्थात् नर्तकों के स्वामी) कहलाते हैं। उनकी लिङ्ग-रूप में पूजा की जाती है। लिङ्ग एक गोल किया हुआ पत्थर होता है। इसको प्रायः भ्रमवश शिश्न का प्रतीक मान लिया जाता है। रहस्यवादी (Mystic) मनोविज्ञान में लिङ्ग के गूढ़ अर्थ होते हैं। यह अनन्तता तथा निराकृति का प्रतीक है।

शिव को पशुपति कहा जाता है, क्योंकि आध्यात्मिक पूर्णता के दृष्टिकोण से सभी प्राणी (जिनकी सृष्टि की जाती है) स्वभाव से पशु के समान हैं। उनकी प्रमुख लीलाएँ हैं-- दक्ष के यज्ञ को विध्वंस करना, कामदेव द्वारा उनकी समाधि भङ्ग करके उन्हें मोहित करने का प्रयत्न करने के फलस्वरूप अपने तृतीय नेत्र से

उसे भस्म कर देना; ब्रह्मा तथा विष्णु की सहायता से त्रिपुरों का नाश करना; समुद्र से निकले हुए गरल का पान करना तथा अपने शिर पर गङ्गा को धारण करना । कहा जाता है कि उन्होंने ब्रह्मा के प्रथमजात पुत्रों—सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और सनत्सुजात—को ज्ञान प्रदान करने के लिए दक्षिणामूर्ति का रूप धारण किया था । शिव की वार्षिक पूजा (जिसे शिवरात्रि कहते हैं) का आयोजन फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को किया जाता है । शिव शैवों के परमेश्वर हैं—जिस प्रकार विष्णु वैष्णवों के परमेश्वर हैं, यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा कोई सङ्केत नहीं मिलता कि विष्णु और शिव में कोई सुस्पष्ट अन्तर है । विद्वज्जन अब भी ब्रह्मा, विष्णु और शिव को अलग-अलग देव नहीं मानते । वे उन्हें एक ही सत्ता के तीन रूप मानते हैं ।

ऋग्वेद के रुद्रसूक्त, यजुर्वेद के शतरुद्रिय, शैव उपनिषदों, महाभारत, छहों शैव पुराणों, शैव आगमों तथा शैव सन्तों की वाणी में शिव का गुणगान किया गया है ।

गणेश

गणेश को गणपति भी कहा जाता है । वे शिव के प्रथम पुत्र हैं । उनका शिर हाथी का है । वे लम्बोदर (तोंदल) हैं । उनके अस्त्र त्रिशूल, पाश आदि हैं । प्रत्येक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान, समारोह और माङ्गलिक कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व विघ्नहर्ता तथा भाग्यप्रदाता के रूप में गणेश की पूजा सबसे पहले की जाती है । प्रज्ञा (जिसका सङ्केत हाथी के शिर से मिलता है) के

प्रतीक के रूप में उनकी पूजा की जाती है। उनका वाहन चूहा है। चूहे जैसे सबसे छोटे तथा हाथी जैसे सबसे विशाल पशु से उनका सम्बन्ध होना इस बात का प्रतीक है कि छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक वस्तु पर उनका आधिपत्य है।

उनके महान् कार्यों से सम्बन्धित अनेक कथाएँ हैं जिनके कारण वे प्रत्येक मत तथा सम्प्रदाय के भक्तों के सर्वप्रथम अर्चनीय, परम श्रद्धेय देवता तथा सब प्राणियों के प्रिय बन गये हैं। पूरे भारत देश में प्रत्येक वर्ष भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी तिथि को उनकी पूजा की जाती है जिसे रामनवमी, कृष्णाष्टमी या शिवरात्रि के समान ही महत्त्व दिया जाता है। विशेष कामनाओं की पूर्ति के लिए (यथा असत्य अभियोग से मुक्त होने, खोयी हुई वस्तुओं को प्राप्त करने, खोयी हुई प्रतिष्ठा को वापस पाने, मार्ग की बाधाओं को दूर करने आदि के लिए) गणेश के सम्मानार्थ सिद्धि-विनायक-व्रत—एक विशेष प्रकार का अनुपालन—किया जाता है।

गणेशपुराण तथा गणपत्यथर्वशीर्ष उपनिषद् में गणेश का गुणगान किया गया है।

देवी

हिन्दू-धर्म में विष्णु, शिव तथा देवी—इन तीन देवों की उपासना व्यापक रूप से की जाती है। देवी (जिसे दुर्गा भी कहा जाता है) का उद्भव अत्यन्त प्राचीन है। देवी के प्रसङ्ग में ऋग्वेद तथा महाभारत की महान् देवी का उल्लेख किया जाता

है। ऋग्वेद में इस देवी को ब्रह्माण्ड का पालन करने वाली देवी शक्ति का प्रतीक मान कर उसकी स्तुति की गयी है। वेद में जिसे भगवती माँ कहा गया है, वही कठोपनिषद् की स्वर्णिम वर्ण वाली उमा है। महाभारत में कृष्ण को भगिनी के रूप में उसका वर्णन है। इस प्रकार वैष्णव-मत से भी उसे सम्बद्ध कर दिया गया है। शैव उसे शिव की पत्नी मान कर उसकी उपासना करते हैं।

युधिष्ठिर ने विपत्तियों और कष्टों से मुक्ति पाने के लिए देवी से प्रार्थना की थी। कृष्ण ने अर्जुन से महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व देवी की स्तुति करने के लिए कहा था। परन्तु देवी का गुणगान करने वाला सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ सप्तशती या देवीमाहात्म्य है जो भगवद्गीता के ही समान महत्त्वपूर्ण है। सप्तशती मार्कण्डेयपुराण का एक भाग है। देवी को चण्डी, दुर्गा, काली, लक्ष्मी तथा सरस्वती भी कहा गया है। कभी-कभी देवी तथा शिव-पत्नी पार्वती को अविभेद्य रूप से एक मान लिया जाता है। आश्विन माह के शुक्ल पक्ष के प्रथम नौ दिनों तक की जाने वाली नवरात्र-पूजा देवी की ही वार्षिक पूजा है। देवी-उपासना का विकास शक्ति की दार्शनिक तथा रहस्यात्मक पूजा के रूप में हुआ जो वेद-संहिताओं तथा पुराणों के बाह्य लोक-प्रचलित कर्मकाण्डों से भी बढ़ कर है।

देवीमाहात्म्य के अनुसार देवी ने अपने को तीन रूपों में प्रकट किया—महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती। महाकाली के रूप में उन्होंने मधु और कैटभ (जो प्रलयसागर में प्रकट हुए थे) को परास्त करने के लिए विष्णु को उनकी योगनिद्रा से जगाया। महालक्ष्मी के रूप में उन्होंने महिषासुर की सेना का

सामना किया तथा उसको सैनिकों-सहित मार डाला। महा-सरस्वती के रूप में उन्होंने शुम्भ तथा निशुम्भ असुरों का उनके सैनिकों समेत वध किया तथा पृथ्वी और स्वर्गलोक में शान्ति स्थापित की। देवी के ये तीनों रूप (क्रमशः) तमस्, रजस् और सत्त्व के आदि-गुणों के माध्यम से हुए दिव्य सत्ता के प्रकटन हैं। इन रूपों को क्रिया, इच्छा और ज्ञान की सार्वभौम शक्तियों के समान भी माना जाता है। 'देवीमाहात्म्य' में देवी से सम्बन्धित श्लोकों में अभिव्यक्ति का जो सौन्दर्य तथा जो भावोद्बेक पाया जाता है, वह धार्मिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता।

दुर्गा, लक्ष्मी तथा सरस्वती क्रमशः शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा की पत्नियाँ हैं तथा उनसे उसी प्रकार अविच्छेद हैं जिस प्रकार आग से उसकी उष्णता। इस तथ्य से यह सङ्केत मिलता है कि शक्ति के ये प्रकटीकरण अन्ततः स्वयं क्रियारत ईश्वर ही हैं। दुर्गा का वाहन सिंह है। कभी-कभी चीते को भी उनके वाहन के रूप में चित्रित किया जाता है। यद्यपि वे अपने पति शिव के साथ कैलास में निवास करती हैं, परन्तु अपने भक्तों की रक्षा के लिए वे सृष्टि में कहीं भी प्रकट हो जाती हैं। उनकी आठ भुजाएँ हैं जिनमें वे देवताओं के विभिन्न अस्त्रों को धारण किये रहती हैं। वे परिवर्त्तन, संहार, युद्ध, महामारी, रोगों तथा (साथ ही साथ) उनकी औषधियों की देवी हैं। वे रुद्र या शिव-रूप ईश्वर की संहार-शक्ति हैं।

लक्ष्मी के उपासक उनके कमल के आसन पर विराजमान रूप की उपासना करते हैं। इस रूप में वे हाथों में कमल के पुष्प भी पकड़े रहती हैं। वे विष्णु-रूप ईश्वर की सम्पोषण तथा रक्षण-शक्ति हैं। वे समृद्धि, धन, भाग्य, शान्ति तथा प्रचुरता की देवी हैं।

वे ईश्वर की परिरक्षी-शक्ति हैं और विष्णु की पत्नी होने के कारण राम-पत्नी सीता, कृष्ण-पत्नी रुक्मिणी तथा कृष्ण के बाल्यकाल की प्रेम-पात्री राधा के रूपों में भी पूजित हैं। ऐसा माना जाता है कि पशु-धन, अन्न-धन और स्वर्ण-धन में वे अपनी उपस्थिति को विशेष रूप से व्यक्त करती हैं।

ब्रह्मा-रूप ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति सरस्वती हैं। हंस उनका वाहन है। उनके एक हाथ में वीणा तथा दूसरे हाथ में पुस्तक रहती है। ऋग्वेदसंहिता में उन्हें 'वाक्' (वाणी) माना गया है तथा वे समस्त ललितकलाओं (विशेषकर सङ्गीत तथा साहित्य) की अधिष्ठाता देवी हैं। विद्यार्थियों, लेखकों तथा सङ्गीतज्ञों की वे प्रीतिपात्र देवी हैं।

शाक्त भक्त देवी को त्रिपुरसुन्दरी तथा राजराजेश्वरी—ब्रह्माण्ड की महान् सत्ता—के रूप में पूजा करते हैं।

ऋग्वेद के देवीसूक्त, शाक्त उपनिषदों, महाभारत, देवी-माहात्म्य, देवीभागवत, ललितोपाख्यान, शाक्त आगमों तथा भास्कराचार्य की रचनाओं में देवी के विभिन्न रूपों की महिमा का वर्णन है।

ब्रह्मा

यद्यपि ब्रह्मा त्रिदेवों में से एक हैं, परन्तु हिन्दू-धर्म में सामान्यतया उनकी पूजा नहीं की जाती। केवल पुष्कर में ब्रह्मा का एक मन्दिर है। आश्चर्य है कि वे हिन्दू-धर्म के किसी भी मत-सम्प्रदाय के उपास्य देव नहीं हैं। पुराणों के अनुसार सृष्टि से पूर्व विष्णु के नाभि-कमल से उनका आविर्भाव हुआ। प्रलय-

काल में विष्णु को योगनिद्रा से जगाने के लिए उन्होंने ही प्रथम बार परमेश्वर की शक्ति के रूप में देवी, दुर्गा का आह्वान किया। वर्तमान ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों की सृष्टि ब्रह्मा ने ही की है। वे सृष्टि के पितामह हैं। वे चतुर्मुखी हैं। उन्होंने सृष्टि के सम्मुख वेदों को प्रकट किया।

धर्मग्रन्थों में उनकी स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बतायी गयी है। अजेय बनने के लिए जो शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं (यथा असुर), वे तप द्वारा उनकी उपासना करते हैं। उन्होंने असुरों को शक्ति का वरदान दिया, यद्यपि इसके परिणामस्वरूप देवों को सङ्कट का सामना करना पड़ा। ब्रह्मा को हिरण्यगर्भ—समस्त वस्तुओं के प्रथम सृष्टिकर्त्ता—भी कहा जाता है। ऋग्वेद में उनका वर्णन है। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में वैश्व-प्राण और उन्हें अभिन्न माना गया है। परम सत्ता के प्रथम स्फुरण के रूप में वैश्व-मन तथा वैश्व-बुद्धि से भी उन्हें अभिन्न माना जाता है। जिस रहस्यात्मक अस्त्र में उनका आह्वान किया जाता है, उसका नाम है ब्रह्मास्त्र। यह अत्यन्त घातक दिव्य प्रक्षेपणास्त्र है। प्राचीन काल के युद्धों में इसका प्रयोग किया जाता था।

वे सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा दश प्रजापतियों के पूर्वज हैं। उनके मस्तक से शिव या रुद्र प्रकट हुए। अपने शरीर को मनु और शतरूपा में विभाजित करके वे अनेक प्राणियों के स्रोत बने हैं। यद्यपि अठारह में से छः पुराण ब्रह्मा से ही सम्बन्धित हैं; परन्तु सार्वजनिक या व्यक्तिगत रूप से उनकी पूजा बहुत कम ही की जाती है।

ब्रह्मा और ब्रह्म एक नहीं हैं। ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं। ब्रह्म ब्रह्माण्ड-नियन्ता परम तत्त्व है।

स्कन्द

गणेश के अनुज तथा शिव के द्वितीय पुत्र स्कन्द को कुमार, कार्तिकेय, षण्मुख, सुब्रह्मण्य तथा अन्य अनेक नामों से भी जाना जाता है। इनका वाहन मयूर है जो अपने पञ्जों में एक साँप को जकड़े हुए खड़ा रहता है। उनकी ध्वजा का चिह्न कुक्कुट है। उनकी शक्तियाँ बल्ली तथा देवसेना हैं जिन्हें उन्होंने स्वर्ग और भू लोकों में अनेक रूप रखते हुए विभिन्न प्रकार के साहसिक कार्य करने की अवधि में ग्रहण किया था। स्कन्द के दक्षिण भारत में अनेक उपासक हैं। उनका सम्प्रदाय भारत के धर्म का एक महत्त्वपूर्ण भाग है।

जब काम ने शिव की तपस्या भङ्ग करने का प्रयत्न किया था, तब शिव ने क्रोधित हो कर अपना तीसरा नेत्र खोल कर उसे भस्म कर दिया था। स्कन्द का जन्म इस घटना की पृष्ठ-भूमि में हुआ था। जैसे ही शिव का तीसरा नेत्र खुला, उससे चिनगारियाँ निकलीं। वे अन्तरिक्ष में फैल गयीं। वायु और अग्नि उनकी वाहक बनीं और उन्हें गङ्गा नदी में डाल दिया। गङ्गा जब इस दिव्य शक्ति को अपने में समाहित करने में असमर्थ रही तो उसने उन्हें अपने तट पर शर (सरपत) की झाड़ियों में डाल दिया। धरती पर शिव की इस शक्ति (या तेज) के अवतरण में इस प्रकार आकाश, वायु, जल तथा अग्नि तत्त्वों का सम्मिश्रण हो गया। ये पञ्च तत्त्व दिव्य तैजस् से

अनुप्राणित हो कर संयुक्त रूप से एक सञ्चित शक्ति बन गये जिसका प्रकटीकरण छः मुखों वाली षड्गुणी दिव्यता (षण्मुख) के रूप में हुआ। इस एक ही व्यक्तित्व में व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वों की उपस्थिति थी। शिव की इस सन्तान का जन्म और पालन-पोषण रहस्यमय परिस्थितियों में हुआ। उसके जन्म लेने का उद्देश्य भी रहस्यमय था, जिसे केवल देवतागण ही जानते थे। शिव का तीसरा नेत्र बुद्धि-तत्त्व का प्रतीक है। तीसरे नेत्र से स्कन्द के प्रकट होने का कारण यह है कि वे दिव्य ज्ञान के प्रतीक हैं।

स्कन्द का मुख्य अस्त्र शक्ति (बरछी) है। यह तेज धार तथा नुकीले सिरे वाला एक लम्बा अस्त्र है जिसका निशाना अमोघ होता है। भक्तजन इसका अर्थ यह लगाते हैं कि जिस प्रकार इस अस्त्र में एक नोक होती है, उसी प्रकार अज्ञान रूपी राक्षस का वध करते समय मन भी किसी एक वस्तु पर स्थिर (एकाग्र) होना चाहिए। ब्रह्मा की सलाह पर देवताओं ने (शिव-पार्वती को उपकरण बनाते हुए) स्कन्द-जन्म के अनुकूल परिस्थितियाँ निर्माण करने में गुप्त सहयोग दिया था। सुरपक्ष, सिंहमुख, तारक आदि असुरों के उपद्रवों के कारण सृष्टि में हर स्थान पर त्राहि-त्राहि मची थी। उनका वध एक विशेष दिव्य शक्ति के रूप में शिव के पुत्र द्वारा ही किया जा सकता था; इसीलिए स्कन्द देवताओं की सेना के सेनापति बने। वे हिन्दू-धर्म के युद्धप्रिय देवता के रूप में पूजे जाते हैं। जिस दिन स्कन्द ने असुरों का वध किया था, वह दिन प्रतिवर्ष कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की षष्ठी तिथि को मनाया जाता है। एक दूसरी परम्परा के अनुसार वह दिन मार्गशीर्ष मास के इसी पक्ष में और इसी तिथि को मनाया जाता है।

स्कन्दपुराण में स्कन्द की महिमा का वर्णन तथा उनके द्वारा असुरों को परास्त करने की गाथाएँ हैं। स्कन्द के नेतृत्व में देवताओं ने असुरों से जो युद्ध किया था, उसका वर्णन कालिदास ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'कुमारसम्भव' में किया है। इसी घटना पर आधारित तमिल सन्त अरुणगिरिनाथ कृत 'तिरुप्पुगज' को स्कन्द के भक्त उतना ही महत्त्व देते हैं जितना वेदों को; तमिल वैष्णव भक्तों द्वारा 'दिव्य प्रबन्धम्' तथा तमिल शैव भक्तों द्वारा 'तेवारम्' को दिया जाता है। अरुणगिरिनाथ कृत 'स्कन्दरानुभूति तथा स्कन्दरालङ्कारम्' ग्रन्थों में स्कन्द के रूप में ईश्वर की अनुभूति तथा उनके प्रति प्रेम का सरस वर्णन है।

यहाँ यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि हिन्दू-धर्म के छः प्रधान सम्प्रदाय विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य तथा स्कन्द हैं। इसके अतिरिक्त शिव-सम्प्रदाय के एक अङ्ग के रूप में शिव के एक विशेष रूप के अल्पसङ्ख्यक उपासक भक्तों के पाशुपत-सम्प्रदाय का भी नाम लिया जाता है। महाभारत में स्कन्द के कार्यों का वर्णन है। कुमार-तन्त्र स्कन्दोपासना से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। स्कन्दपुराण स्कन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व पर आधारित एक पवित्र ग्रन्थ है। इसके तमिल पाठ में उनके वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन है।

सूर्य

सूर्य को आदित्य भी कहते हैं। इनकी महत्ता का वर्णन ऋग्वेद में है। इसके कुछ विभागों में विशेष रूप से सूर्य का वर्णन है। उनमें इस बात की उद्घोषणा की गयी कि सूर्य

चल-अचल प्राणियों की आत्मा हैं (सूर्य आत्मा जगत्स्त-स्थुसश्च) । आदित्य ही ब्रह्म है (असावादित्यो ब्रह्म) । सूर्य दृश्य देवता है (सूर्यः प्रत्यक्षदेवता) । संसार का प्रत्येक प्राणी अपने अस्तित्व के लिए सूर्य का ऋणी है । घरती के जीव, मानव, पशु, वनस्पतियाँ सौर ऊर्जा के बिना जीवित ही नहीं रह सकते । सचमुच ही सूर्य सभी प्राणियों की आत्मा है । घरती पर सूर्य की शक्ति का प्रभाव इतना अधिक है कि सन्ध्या-वन्दन—दिन के तीन सन्धिकालों (प्रातः, मध्याह्न तथा सायं) में की जाने वाली सूर्योपासना—प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी हिन्दू के लिए आवश्यक माना जाता है । हमारे अनजाने में ही सौर ऊर्जा हमारे मन, प्राण और शरीर को सक्रिय बनाये रखती है । सूर्य पर ही प्राणियों का विकास और स्वास्थ्य निर्भर करता है ।

भारतीयों की दृष्टि में सूर्य एक सशक्त क्रिया के रूप में निमुक्त होने वाली अणुशक्ति से परिपूर्ण एक चमकीला खगोलीय गोला मात्र नहीं है । धार्मिक व्यक्तियों की दृष्टि में सूर्य एक 'हिरण्यमय पुरुष' (देदीप्यमान व्यक्ति) तथा संसार में ईश्वर का प्रतिनिधि है । सूर्य अपने को एक जीवन-प्रदायिनी शक्ति के रूप में प्रकट करता है । वह प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति को सम्पोषित करता है । वह इस तथ्य का सूचक है कि ईश्वर समस्त प्रकाशों से महत्तर प्रकाश है (ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्) । ऋग्वेद के महासौरसूक्तों में सूर्य की भावोद्दीपक प्रार्थनाएँ की गयी हैं । इन प्रार्थनाओं में इस बात पर बल दिया गया है कि सूर्य की सर्वव्यापी दिव्यता तथा एकमात्र परम सत्ता (एकं सत्) में अभिन्नता है ।

सूर्य विराट् पुरुष का एक नेत्र है तथा समस्त प्राणियों के नेत्रों का अधिष्ठातृ देव है। जिस आत्मा को क्रम-मुक्ति मिलती है, वह सूर्य-द्वार से हो कर गुजरती है। वेदों में सूर्य की महिमा का आह्लादक वर्णन है जिसके अनुसार सूर्य चकाचौंध कर देने वाले सौन्दर्य तथा सबको प्रेरित करने वाली भव्यता से युक्त और संसार को अपने लम्बे डग से पार करने वाला एक दिव्य व्यक्तित्व है। ईशावास्योपनिषद् में एक मरणासन्न व्यक्ति द्वारा सम्बोधित एक विशेष प्रार्थना मिलती है। प्रश्नोपनिषद् में सूर्य और प्राण (प्राणाधार ऊर्जा) को अभिन्न माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सूर्य ईश्वर का चेहरा है तथा वह रहस्यवादी उपासना (मधुविद्या) का केन्द्र-बिन्दु है।

प्रातःकालीन सन्ध्या-वन्दन के समय सूर्य को समर्पित एक विशेष प्रकार का शारीरिक व्यायाम—सूर्यनमस्कार—उपासकों द्वारा नियमित रूप से किया जाता है। वेद के प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र के देवता सूर्य ही हैं। वाल्मीकि रामायण के अनुसार अगस्त्य ऋषि ने राम को रावण का वध करने हेतु सक्षम बनाने के उद्देश्य से उन्हें एक विशेष प्रकार की सूर्य-प्रार्थना—आदित्यहृदय—की दीक्षा दी थी। विपन्नावस्था में युधिष्ठिर ने सूर्य की प्रार्थना की थी। फलस्वरूप सूर्य ने उन्हें एक ऐसा स्वर्गीय पात्र प्रदान किया था जिसमें रखा हुआ भोजन अक्षुण्ण बना रहता था।

जनवरी के मध्य में जब सूर्य पृथ्वी के उत्तरी गोलार्द्ध की ओर गमन करना प्रारम्भ करता है, उस काल को मकरसंक्रान्ति कहते हैं। उस समय सूर्य दशवीं राशि में होता है। बहुत से लोग इस समय को नववर्ष मानते हैं। महाभारत के भीष्म ने

प्राणों का त्याग करने के लिए सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा की थी। माघ के शुक्ल पक्ष की सप्तमी (जिसे रथ-सप्तमी भी कहते हैं) को उत्तर की ओर सूर्य का यह गमन निश्चित रूप से कार्यरत होता है। इसी दिन सूर्य के रथ का सारथी अरुण रथ को उत्तर की ओर मोड़ता है। अर्क का क्षुप (पौधा) सूर्य का नैवेद्य है; इसीलिए रथ-सप्तमी के अवसर पर स्नान करते समय भक्तजन अपने शिरों पर अर्क की पत्तियाँ रख लेते हैं।

हनुमान्

रामायण के महान् वीरों में हनुमान् की गणना की जाती है। वे शक्ति, आत्म-नियन्त्रण, ज्ञान तथा सेवा-भाव के अद्वितीय स्रोत हैं। जनश्रुतियों के अनुसार वे अञ्जना (वानर प्रजाति की एक स्वर्गिक महिला) के गर्भ से उत्पन्न वायु के पुत्र थे। एक बार बाल्यावस्था में खेल-खेल में उन्होंने सूर्य के गोले तक जा कर उसे पकड़ लेने का प्रयत्न किया। तब इन्द्र ने उन्हें नीचे धकेल दिया। इससे वायु ने अपने को बहुत अपमानित अनुभव किया। उन्हें प्रसन्न करने के लिए क्षतिपूर्तिस्वरूप सृष्टिकर्ता ब्रह्मा तथा देवों ने हनुमान् को अपराजेय शक्तियाँ प्रदान कीं तथा अमरता का वरदान दिया।

कहते हैं कि तब शक्तिसम्पन्न हनुमान् ने शरारत करने के लिए ऋषियों की यज्ञभूमि पर जा कर उसे दूषित कर डाला। तब ऋषियों ने हनुमान् को शाप दिया कि जब तक कोई उन्हें स्मरण नहीं करायेगा तब तक उन्हें अपनी शक्तियाँ विस्मृत

रहेंगी। इस घटना के कारण हनुमान् तुरन्त ही शक्तिहीन हो गये। वे किष्किन्धा में सुग्रीव के मन्त्री बन कर कई वर्षों तक रहे। इस बीच उन्हें अपनी शक्ति का विलकुल भान नहीं रहा। फिर एक ऐसा समय आया जब उन्हें सीता की खोज करने के लिए निकलना पड़ा। तब ऋक्ष-राज जाम्बवान् ने उन्हें उनके बाल्यकाल तथा शक्तियों का स्मरण कराया। तत्काल ही उनका आकार बहुत बड़ा हो गया। उन्होंने सोत्साह अपनी पूँछ बहुत जोर से हिलायी। उनके रूप को देख कर सब विस्मयाकुल हो गये; परन्तु उन्हें प्रसन्नता भी हुई, क्योंकि सीता की खोज में वे (हनुमान्) सफल होंगे, इस बात की आशा उन्हें बँध गयी थी।

लङ्का पहुँचने हेतु हनुमान् द्वारा सागर को लाँघने का अत्यन्त सरस तथा सजीव वर्णन वाल्मीकि ने किया है। जिस पर्वत पर खड़े हो कर हनुमान् ने छलाँग लगायी थी, वह उनके वेग के कारण हिल गया तथा इसी वेग के कारण पर्वत के कुछ पेड़ उन्हीं के साथ उड़ने लगे। सुरसा, छायाग्राहिणी तथा लङ्किनी के रूप में उन्हें तीन अतिमानवीय शक्तियों का सामना करना पड़ा। मार्ग की इन तीनों बाधाओं को पार करते हुए उन्होंने लङ्का में प्रवेश किया। बड़ी कठिनाई से वे सीता को खोज सके। इसके बाद उन्होंने एक ऐसा कार्य करने की योजना बनायी जो लङ्का में पहुँचने के मुख्य उद्देश्य (सीता की खोज) से सुनिश्चित रूप से सम्बन्धित नहीं था। रावण के प्रति अपने क्रोध के कारण उन्होंने उसके प्रिय उपवन को नष्ट करने का निश्चय किया। इसका उद्देश्य न केवल अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना था वरन् अपने हाथों राक्षसों का सर्वनाश होते देख अपना मनोरञ्जन करना भी था।

उन्होंने एक भयानक रूप धारण किया। पर्वताकार बन कर वे एक अतिमानवीय व्यक्तित्व की आभा से दीप्त हो गये। उन्होंने अशोकवाटिका को शीघ्र ही नष्ट कर डालने का निर्णय ले लिया तथा विनाशकारी झञ्झावात के समान वे उत्पात मचाने लगे। रावण ने जब यह सुना, तब उसने उन्हें परास्त करने के लिए अपनी सेना भेजी। हनुमान् ने समूची सेना को इस प्रकार नष्ट कर दिया मानो वह उसके साथ क्रीड़ा कर रहे हों। तब रावण ने कुछ प्रसिद्ध योद्धाओं को उनसे युद्ध करने के लिए भेजा। उनको भी हनुमान् ने पीस डाला। ऐसा प्रतीत होने लगा कि यदि जल्दी ही कुछ प्रभावी कार्यवाही न की गयी तो समूची लङ्का हनुमान् के हाथों नष्ट हो जायेगी। फिर रावण-पुत्र इन्द्रजीत ने उन पर ब्रह्मास्त्र फेंका। वाल्मीकि कहते हैं कि तब हनुमान् ने कोई प्रतिरोध नहीं किया—न केवल ब्रह्म के अस्त्र को सम्मान देने के लिए वरन् रावण से आमने-सामने बात करने का अवसर पाने के लिए भी।

हनुमान् को बाँध कर रावण के समक्ष ले जाया गया। रावण से उन्होंने निर्भीकतापूर्वक बात की। क्रोधित रावण ने आज्ञा दी कि तेल में भीगे हुए चिथड़ों-लत्तों को लपेट कर उसकी पूँछ में आग लगा दी जाय। इधर पूँछ में आग लगायी गयी, उधर हनुमान् ने अपने आकार को बहुत बड़ा कर लिया। आसपास खड़े राक्षसों को कुचलते हुए वे (घरों की) एक छत से दूसरी छत पर कूदने लगे और उन्होंने पूरे नगर में आग लगा दी। उसी समय बहुत तेज हवा चली जिससे आग भड़क उठी—मानो हनुमान् के जनक वायु उनकी वीरता पर प्रसन्न हो गये—तथा समूची लङ्का मृत्यु की विभीषिका से संन्यस्त हो गयी।

यह निश्चय कर लेने के लिए कि इस भयानक अग्निकाण्ड से सीता को कोई क्षति तो नहीं पहुँची, उन्होंने एक बार फिर सीता से भेंट की तथा समुद्र को लाँघ कर वापस राम के पास पहुँच गये और उन्हें बताया कि वे सीता से मिल कर आये हैं। यह शुभ समाचार पाने के बाद राम ने एक विशाल वानर-सेना ले कर रावण से युद्ध करने के लिए द्रुत गति से प्रस्थान किया। राम-रावण-युद्ध में हनुमान् ने बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभायीं जिनके कारण उन्हें अक्षय सम्मान प्राप्त हुआ। वे सब वेदों तथा सभी नौ व्याकरणों के पण्डित हैं। सृष्टि के अगले कल्प में वे सम्भवतः ब्रह्मा-पद के लिए प्रत्याक्षी होंगे। हनुमान् उन सात चिरञ्जीवियों में से एक हैं जो ब्रह्माण्ड का अन्त होने तक जीवित रहेंगे।

रामायण के सुन्दरकाण्ड—जिसमें हनुमान् के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन है—का पाठ शत्रुओं के भय से मुक्ति पाने के लिए किया जाता है।

गौण देवता

शास्ता

पुराणों की एक कथा के अनुसार समुद्र-मन्थन के समय विष्णु ने मोहिनी-रूप धारण कर लिया। असुर मोहिनी पर मोहित हो गये तथा प्रेमोन्माद में अपने को भूल बैठे। फिर मोहिनी ने चतुराई से देवताओं को अमृत वितरित कर दिया। जब शिव ने इस घटना के बारे में सुना, तब उन्होंने विष्णु के मोहिनी-रूप को देखने की इच्छा प्रकट की। जब विष्णु ने उनके

समक्ष मोहिनी-रूप धारण किया तब शिव उस पर इतना मोहित हो गये कि दौड़ कर उन्होंने स्त्रीवेशधारी विष्णु को अपने आलिङ्गन-पाश में बाँध लिया। उस क्षण शिव ने जिस ऊर्जा को निर्मुक्त किया, वह शास्ता अथवा हरिहर-पुत्र (शिव और विष्णु का पुत्र) के जन्म का कारण बनी।

शिव की इस गाथा से भक्तजनों को कौतूहल में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि यह घटना मात्र इस तथ्य की सच्चेतक है कि विष्णु ने जिस सौन्दर्य को धारण किया था, वह अत्यन्त अपार था। जिस शिव ने कामदेव को भस्म कर दिया, उसे मोहित करने के लिए सुन्दरता ने अपना जो रूप धारण किया होगा, उसकी कल्पना करना मानव के बस की बात नहीं है। विश्व-साधनों का अतिक्रमण करने वाले सौन्दर्य से ही ऐसे मोह की सम्भावना है। यह घटना परम सत्य का अन्वेषण करने वाले साधकों के लिए एक शिक्षा है। साथ ही इस बात की ओर भी सच्चेत करती है कि ईश्वर की शक्तियाँ कितनी गम्भीर और बहुमूल्य हैं।

दक्षिण भारत में शास्ता को अय्यपन नाम से जाना जाता है। ऐसा माना जाता है कि केरल राज्य में सबरीमलाई (सबरी की पहाड़ियों) पर स्थित अय्यपन के मन्दिर में वे साकार रूप में उपस्थित हैं। इस मन्दिर के दर्शनार्थ यात्रा करना एक पुण्य धार्मिक कृत्य तथा आध्यात्मिक साधना समझा जाता है। पवित्रता और गाम्भीर्य की दृष्टि से यह तीर्थयात्रा महाराष्ट्र प्रदेश में स्कन्द भक्तों द्वारा की जाने वाली कावड़ी-यात्रा अथवा विठ्ठल के उपासकों की वारकरी-यात्रा के समान है। यद्यपि शास्ता की

उपासना विशेष रूप से दक्षिण भारत में ही की जाती है, परन्तु भारत के अन्य भागों में भी यह शास्ता-पन्थ लोकप्रिय होता जा रहा है।

लोकपाल

विभिन्न दिशाओं के संरक्षक देव लोकपाल (विश्व के रक्षक) हैं। इन्द्र पूर्व दिशा के शासक हैं; यम दक्षिण दिशा के, वरुण पश्चिम दिशा के, कुवेर उत्तर दिशा के, अग्नि दक्षिण-पूर्व के, नैऋती दक्षिण-पश्चिम के, वायु उत्तर-पश्चिम के तथा ईशान उत्तर-पूर्व के शासक हैं। द्यौ वायुमण्डल के देवता हैं तथा पृथ्वी या भूदेवी धरती की देवी हैं। वैदिक मन्त्रों में इन्द्र की स्तुति की गयी है। वह स्वर्ग के अधिपति हैं, वर्षा-बादलों के स्वामी हैं तथा बिजली को नियन्त्रित करते हैं। इन्द्र का अस्त्र वज्र है और उनकी राजधानी अमरावती है।

यम मृत्यु के देवता हैं और धर्मराज के रूप में मृत व्यक्तियों की आत्माओं को न्याय प्रदान करते हैं, परन्तु लोग उन्हें मृत्यु के बाद संसार से गमन करने वाली आत्माओं को दण्ड देने वाला भयानक देवता मानते हैं। वे विवस्वान या सूर्य के पुत्र माने जाते हैं, इसलिए उन्हें वैवस्वत कहा जाता है। दूसरे लोकों में चले जाने वाले पितरों के भी वह देवता हैं। उनका भयानक दण्ड 'यमदण्ड' कहलाता है। उनका वाहन भैंसा है। उनकी राजधानी संयमनी है। चित्रगुप्त उनके लिपिक हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों का लेखा-जोखा रखते हैं। इसी लेखे-जोखे के आधार पर यम न्याय करते हैं।

वरुण जल के स्वामी हैं। उन्हें समुद्र का देवता भी कहा जाता है। वे समस्त जल-प्राणियों के स्वामी हैं। कुबेर परी-देव हैं तथा अलकापुरी में निवास करते हैं। वे कैलासवासी शिव के कोषपाल हैं। अग्नि देवता हैं जो वेदों के अनुसार यज्ञ में मन्त्रों द्वारा आहुत देवताओं तक (यज्ञ की) आहुतियाँ पहुँचाते हैं। वे प्रत्येक वस्तु का शोधन करते हैं। प्रत्येक यज्ञ-वेदी के स्थल पर, जहाँ आहुतियाँ डाली जाती हैं, अग्नि का आह्वान किया जाता है। नैऋती निचले स्तर के अर्धदेव हैं। वायु पवन-देव हैं। ईशान एक विशेष दिशा के रक्षक तथा शिव के विशिष्ट प्रकटीकरण हैं। द्यौ वायुमण्डल की तथा पृथ्वी धरती की आत्मा हैं। कुछ लोग चन्द्र-देव को उत्तर दिशा का अधिष्ठातृ देव मानते हैं।

काम

काम भारतीय प्रेम-देवता है। नासदीयसूक्त में वर्णित काम और कामदेव को एक मान लिया जाता है। इस प्रकार वह एक स्वयंजात देवता है। परन्तु नासदीयसूक्त का काम वैश्व सृजनात्मक इच्छा-शक्ति का एक विशेषण है और पुराणों तथा महाकाव्यों में वर्णित कामदेव से भिन्न है। काम (कामना) का वर्णन एक सुन्दर नवयुवक के रूप में किया जाता है। उसका धनुष गन्ध से बनाया गया है। वह भ्रमरों से अलंकृत है। उसके बाण पुष्पों से निर्मित हैं। उसके मुख्य शर सङ्ख्या में पाँच हैं। यह सङ्ख्या सम्भवतः पाँच इन्द्रियों की ओर सङ्केत करती है। उसकी पत्नी का नाम रति (विलास) है। स्वर्ग की अप्सराएँ उसकी सेविकाएँ हैं। कामोद्दीपक आकर्षण-शक्ति ही उसकी सेना है।

वह तपस्यारत ऋषि-मुनियों को तरह-तरह के प्रलोभन दे कर उनके परम लक्ष्यों से डिगाने का प्रयत्न करता है। वह ऐन्द्रिक कामनाओं द्वारा परम-आत्मा से मिलने के प्रयत्नों में बाधा उत्पन्न करने का मानवीकरण है। काम ने नारायण और नर ऋषियों को प्रलोभन देने का प्रयत्न किया था। तब उन्होंने अपनी शक्ति से एक ऐसी अप्सरा उत्पन्न की जो कामदेव के दल की अप्सराओं से अधिक सुन्दर थी। इस प्रकार कामदेव को लज्जित होना पड़ा था। एक बार कामदेव ने शिव की तपस्या भङ्ग करने का प्रयत्न किया था। तब शिव ने अपना तीसरा नेत्र खोल कर उसे भस्म कर दिया। फाल्गुन की पूर्णमासी (होली का पर्व) को हम काम-दहन का उत्सव मनाते हैं। इस घटना के बाद से कामदेव का नाम अनङ्ग (अर्थात् शरीर-रहित) पड़ गया। कामदेव का सम्बन्ध वसन्त ऋतु से माना जाता है; क्योंकि इस ऋतु में कामनाओं का वेग अपेक्षाकृत अधिक होता है।

अन्य देवता, अर्धदेव तथा उपासना-श्रद्धा-विस्मय के पात्र

उपयुक्त देवताओं के अतिरिक्त भारत के प्रत्येक ग्राम का एक ग्रामदेवता होता है। अधिकतर ग्रामदेवता देवियाँ होती हैं जिनका सम्बन्ध दुर्गा से जोड़ा जाता है। गावों की इन स्थानीय देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ छोटे आकार के मन्दिरों में स्थापित कर दी जाती हैं। कभी-कभी पवित्र माने जाने वाले वृक्षों (पीपल, बरगद आदि) के नीचे भी कुछ विशेष पदार्थों में देवी-देवताओं का निवास मानते हुए उनकी स्थापना कर दी जाती है।

इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत के नगरों में भी अलग-अलग संरक्षक देवता हुआ करते थे और इसी कारण न केवल प्राचीन समय में, अपितु आजकल भी उन नगरों को पवित्र माना जाता है। उत्तरी भारत में स्थित बदरिकाश्रम (बदरीनाथ), केदारनाथ, अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार (कनखल), काशी (वाराणसी), द्वारका, अवन्ती (उज्जयिनी), पुरी (जगन्नाथ), पुष्कर और मानसरोवर तथा दक्षिण भारत में काञ्ची (काञ्चीवरम), रामेश्वरम, मदुराई, तिरुपति, श्रीरङ्गम, तिरु-अनन्तपुरम (त्रिवेन्द्रम), पलनी, कन्याकुमारी आदि इसी प्रकार के नगर हैं।

इसी प्रकार नदियों के सङ्गम (जिन्हें प्रयाग कहा जाता है) भी बहुत पवित्र माने जाते हैं। मुख्य सङ्गम ये हैं—भट्टप्रयाग (इलाहाबाद), देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, नन्दप्रयाग, विष्णु-प्रयाग तथा केशवप्रयाग। भट्टप्रयाग के अतिरिक्त शेष प्रयाग हिमालय में गङ्गा और अलकनन्दा नदियों के किनारे-किनारे स्थित हैं।

ऋषि वे अतिमानवीय प्राणी हैं जो अपनी इच्छानुसार किसी भी लोक में रह सकते हैं। वे आध्यात्मिक शक्ति तथा वैभव के भण्डार होते हैं। ब्रह्मा के प्रथम दश पुत्र ऋषियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनके नाम हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष तथा नारद। व्यास (द्वैपायन), अगस्त्य, वृहस्पति, कश्यप, भरद्वाज, गौतम, जमदग्नि, शुक, दत्तात्रेय, वामदेव, विश्वामित्र तथा दुर्वासा की भी प्रसिद्ध ऋषियों में गणना की जाती है। भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी के दिन ऋषिपञ्चमी का त्यौहार इन ऋषियों की पूजा करने के

उद्देश्य से ही मनाया जाता है। सिद्ध वे पूर्ण सन्त होते हैं जो स्वर्गीय लोकों में रहते हैं। पितर (पूर्वजों की आत्माएँ) पितृ-लोक तथा चन्द्रलोक में निवास करते हैं। प्रतिवर्ष भाद्रपद की अमावास्या तिथि को पितृ-तर्पण किया जाता है।

नागों में सर्पों की आत्मा निवास करती है। साँप की पूँछ वाले अर्धमानव के रूप में उन्हें चित्रित किया जाता है। पाताल-लोक में स्थित भोगवती उनका निवासस्थान है। धरती के नीचे छिपे खजानों के वे संरक्षक हैं। मानव-प्राणियों द्वारा प्रसादित किये जाने पर नागगण उन खजानों का कुछ भाग उन्हें (मानव-प्राणियों को) भी दे सकते हैं। वे अपनी इच्छानुसार मानव का रूप धारण कर सकते हैं। उनके प्रतीक के रूप में साँपों—विशेषकर नागों—की गाँवों में पूजा की जाती है। सर्प की उत्पत्ति शेष, वासुकि जैसे सर्पदेवताओं से हुई है, इस कारण उसका सम्मान किया जाता है। श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी तिथि को मनायी जाने वाली नागपञ्चमी नागों की पूजा करने हेतु मनायी जाती है।

यक्षों के स्वामी कुबेर हैं। हिमालय-क्षेत्र में स्थित अलका-पुरी इनका निवास-स्थान है। ये अर्धस्वर्गीय देवयोनि-विशेष हैं। गन्धर्वगण स्वर्गीय सङ्गीतज्ञ हैं जो इन्द्र के दरबार में इन्द्र का मनोरञ्जन करते हैं। इनकी पत्नियाँ अप्सराएँ होती हैं। अप्सराएँ अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक होती हैं। इन्द्र मुनियों के पास उनकी तपस्या भङ्ग करने के लिए अप्सराओं को ही भेजता है। विद्याधर उन वायवीय नगरों में निवास करते हैं जिनका निर्माण हिमालय के क्षेत्रों में मायिक विधियों से किया गया है। वे उड़ सकते हैं तथा इच्छानुसार अपना रूप परिवर्तित

कर सकते हैं। असुर वे दानव हैं जिनका वर्णन पौराणिक कथाओं में है। ये निरन्तर देवों का विरोध करते रहते हैं। राक्षस अपेक्षाकृत अधिक हिंस्र दानव हैं। ये मूर्नरूप धारण करके धरती पर आ सकते हैं। हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, रावण तथा कुम्भकर्ण राक्षस थे।

पिशाच इन सबसे निम्न स्तर की निकृष्ट आत्माएँ हैं। प्रेत, भूत तथा वेताल उन मृत व्यक्तियों की आत्माएँ हैं जिनका श्राद्ध नहीं किया गया है। इन आत्माओं का युद्ध-स्थलों, हिंसापूर्ण मृत्यु के स्थानों, श्मशानों तथा कब्रिस्तानों में बसेरा रहता है। ऐसा कहा जाता है कि ये आत्माएँ अपने उन जीवित सम्बन्धियों को परेशान करती रहती हैं जो दुर्बल इच्छा-शक्ति तथा अशुद्ध मन वाले होते हैं।

वेद सर्वाधिक पवित्र ग्रन्थ हैं। उन्हें अपौरुषेय माना जाता है अर्थात् वे किसी लेखक-विशेष द्वारा नहीं लिखे गये। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार वेद ईश्वर के निःश्वास हैं। ऋषियों को (जिनके नाम वेदों के विभिन्न मन्त्रों के साथ जुड़े हुए हैं) इनके ज्ञान का केवल प्रकटन ही होता है। शिव के निवासस्थान कैलास तथा मेरुपर्वत के अतिरिक्त हिमालय भी एक पवित्रतम पर्वत माना जाता है। भगवद्गीता में वेद, मेरुपर्वत तथा हिमालय का ईश्वर की महिमा की अभिव्यक्ति के रूप में विशेष रूप से वर्णन है।

गङ्गा पवित्रतम नदी है जिसकी महिमा का वर्णन वेद-सहित सभी धार्मिक ग्रन्थों में है। मूलतः गङ्गा ब्रह्मलोक में थी। विष्णु ने जब वामन के रूप में अवतार लिया, तब गङ्गा नीचे की ओर

आयी। वामन-रूप में विष्णु ने जब अपना एक चरण स्वर्गलोक में रखा था, तब ब्रह्मा ने गङ्गा के पवित्र जल से उसका प्रक्षालन किया था। भगीरथ (जिन्होंने गङ्गा को धरती पर लाने के लिए घोर तप किया था) की प्रार्थना पर गङ्गा की धारा के वेग को नियन्त्रित करने हेतु शिव ने उसे अपनी जटाओं में धारण कर लिया था। इस प्रकार गङ्गा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अत्यन्त पावन है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव ने अपने स्पर्श से उन्हें पवित्र कर दिया है। भक्तों को विश्वास है कि गङ्गा-स्नान से पाप नष्ट होते हैं तथा आत्मा मोक्ष को प्राप्त होती है। धर्म-ग्रन्थों की उद्घोषणा है कि गङ्गा को समर्पित मृत शरीर की आत्मा को आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्त होता है। इसी कारण मृत शरीरों या उनकी राख अथवा अस्थियों को गङ्गा में प्रवाहित कर देने की प्रथा है। पाण्डवों और कौरवों के पितामह भीष्म गङ्गा के पुत्र थे तथा राजा शान्तनु उनके पिता थे। जीवविज्ञानी अब इस निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि गङ्गा-जल में एक ऐसी अविश्वसनीय शक्ति है जो रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं को नष्ट कर देती है।

अन्य पवित्र नदियाँ हैं—अलकनन्दा, यमुना, सरस्वती (सरस्वती गुप्त-वाहिनी के रूप में धरती के नीचे बहती है), नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी। गङ्गा की समस्त सहायक नदियाँ भी पवित्र मानी जाती हैं। गङ्गा का उद्गम गङ्गोत्री, इसका मध्य बिन्दु काशी तथा गङ्गा-सागर (जहाँ यह सागर में विलीन हो जाती है) पवित्र तीर्थस्थल हैं। हरिद्वार से ऊपर गङ्गा की समस्त सहायक नदियाँ गङ्गा के ही विभिन्न रूप मानी जाती हैं।

भारत में गाय की पूजा की जाती है। समुद्र-मन्थन के समय समुद्र से स्वर्गिक गाय कामधेनु का आविर्भाव हुआ था। कामधेनु की पुत्री सुरभि भी अपनी माँ के ऐश्वर्यों की उत्तराधिकारिणी है। गाय के दूध, दही, घी, मूत्र तथा गोबर के सम्मिश्रण से पञ्चगव्य बनाया जाता है जिसे परम्परानिष्ठ व्यक्ति समस्त वस्तुओं को पवित्र करने का एक साधन मानते हैं। शिव के वाहन नन्दी के प्रतीक के रूप में बैल की पूजा की जाती है। प्रत्येक शिवमन्दिर में नन्दी के रूप में बैल की प्रतिमा के दर्शन किये जा सकते हैं। प्रसिद्ध शिवमन्दिरों में नन्दी के रूप में शिव को समर्पित साँड़ की पूजा की जाती है।

ऐरावत इन्द्र का पवित्र हाथी है तथा उच्चैःश्रवा उसका पवित्र अश्व। दिव्य पक्षी गरुड़ विष्णु का वाहन है। अश्वत्थ (पीपल) के पवित्र वृक्ष को पूजा की जाती है। बट (बरगद), न्यग्रोध, अशोक तथा पलाश भी पवित्र वृक्ष माने जाते हैं। तुलसी का पौधा विष्णु का नैवेद्य है तथा प्रत्येक (हिन्दू) धार्मिक समुदाय के घरों के प्राङ्गणों में इसे उगाया जाता है। बिल्व-पत्र शिव का नैवेद्य है। सोम की महिमा का वर्णन वेदों में पाया जाता है। यह अत्यन्त पवित्र पौधा है। कुश (दर्भ) की घास को पवित्र मानते हैं। स्वर्ग से गरुड़ जो अमृत-पात्र लाये थे, उसे उन्होंने कुश की ही एक झाड़ी पर रखा था। इस कारण से कुश और भी अधिक पवित्र मानी जाती है। सर्वत्र प्रत्येक यज्ञोत्सव तथा श्राद्ध के धार्मिक कृत्य में कुश का एक आवश्यक सामग्री के रूप में प्रयोग किया जाता है। दूर्वा घास गणेश का नैवेद्य है।

पत्थरों में शालिग्राम विष्णु के सम्बन्ध में, नर्मदा नदी के

शिवलिङ्ग शिव के सम्बन्ध में तथा स्फटिक सूर्य के सम्बन्ध में पवित्र माने जाने जाते हैं। ग्रहों से सम्बद्ध रत्न तथा नवरत्न (यथा पद्मराग) अपने पराभौतिक महत्त्व के कारण अत्यन्त मूल्यवान् माने जाते हैं।

भारतीयों की दृष्टि में एक सर्वव्यापी, सार्वभौम दिव्य उपस्थिति की सङ्कल्पना ही ईश्वर की सङ्कल्पना है। किसी भी वस्तु के माध्यम से, किसी भी स्थान पर, किसी भी समय दैवत्व का आह्वान किया जा सकता है। परम तत्त्व स्थान, समय, तथ्य तथा विषय-निष्ठता की सीमाओं में आबद्ध नहीं है।

अष्टम अध्याय

स्मृतिग्रन्थ अथवा धर्म-संहिता

सामान्य विशेषताएँ

यद्यपि कालानुक्रम, जीवन के प्रति सामान्य दृष्टिकोण तथा नीति-धर्म की विवेचना-विधि के दृष्टिकोणों से स्मृति-ग्रन्थ महाकाव्यों तथा पुराणों से पहले लिखे गये, परन्तु उनसे सम्बन्धित तथ्यों का प्रतिपादन इस पुस्तक में महाकाव्यों तथा पुराणों की चर्चा के बाद किया जा रहा है। इसका कारण यह है कि धार्मिक भावना का जो चरमोत्कर्ष वेद-संहिताओं में पाया जाता है, उसकी सर्वाधिक प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति पुराणों-महाकाव्यों में हुई है। वर्तमान समय के अधिकांश भारतीयों की आकांक्षाएँ जितना उन (पुराणों-महाकाव्यों) में मुखरित हुई हैं उतनी स्मृति-ग्रन्थों में नहीं हुई।

स्मृतिग्रन्थों में एक विधिज्ञ के दृष्टिकोण से प्रस्तुत की गयी सामाजिक आचरण से सम्बन्धित विषय-सामग्री तो है; परन्तु मानवीय स्वभाव की ऊँचाइयों तक पहुँचने के लिए उनसे किसी

प्रकार का प्रत्यक्ष प्रोत्साहन नहीं मिलता । दूसरी बात यह है कि स्मृतिग्रन्थों की विषय-सामग्री को महाकाव्यों तथा पुराणों में इतने आकर्षक ढङ्ग से विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है कि केवल इन (महाकाव्य तथा पुराण) का ही अध्ययन कर लेने से स्मृतियों के समस्त महत्त्वपूर्ण विचार-बिन्दुओं का परिचय मिल जाता है । महाभारत स्वयं ही एक महान् स्मृतिग्रन्थ है; क्योंकि इसमें धर्म के बारे में जितना कुछ बताया गया है, उसके अतिरिक्त और कुछ बताने को नहीं रह जाता । कल्पसूत्रों, आगमों तथा तन्त्रों में भी प्राचीन भारतीय धार्मिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित तथा नैतिक नियमों का उल्लेख है । इस अध्याय में हम इन समस्त ग्रन्थों के उपदेशों के सार-तत्त्वों की विस्तृत विवेचना करेंगे ।

स्मृतिग्रन्थ श्रुतियों (वेदों) के विस्तार हैं । ये सामाजिक नियमों (कानूनों) की संहिताएँ हैं । मनु, याज्ञवल्क्य तथा पाराशर के स्मृतिग्रन्थ सर्वाधिक प्रामाणिक तथा प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । इसके बाद उन स्मृतिग्रन्थों का स्थान है, जिनके रचयिता धर्म के ज्ञाता हैं तथा उसका आचरण करते हैं । स्मृतिग्रन्थ वेदों के समाजशास्त्रीय तथा आनुष्ठानिक आदेशों (विधि) के पूरक हैं तथा उनकी व्याख्या भी करते हैं । इस कारण ये ग्रन्थ धर्मशास्त्र भी कहलाते हैं । इन धर्मशास्त्रों में उन कानूनों को निर्धारित किया गया है जो राष्ट्रीय, सामुदायिक, पारिवारिक तथा वैयक्तिक कर्तव्यों का सामान्य तथा विशेष परिस्थितियों के अनुसार नियमन करते हैं ।

ब्राह्मणों (दार्शनिक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के व्यक्ति), क्षत्रियों (शासक, योद्धा या सामान्य रूप से सैनिक-वर्ग), वैश्यों

(सामाजिक जीवन के आर्थिक क्षेत्र को सँभालने वाला व्यापारी-वर्ग) तथा शूद्रों (सेवक) से सम्बन्धित धर्मों का विस्तृत वर्णन इन ग्रन्थों में है। इनमें ब्रह्मचारियों (गुरु के संरक्षण में अध्ययन करने वाले तथा ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करने वाले विद्यार्थी), गृहस्थों (समाज के क्रियाशील, व्यावहारिक तथा व्यावसायिक पक्षों से सम्बन्धित कार्यों में रत गृहपति), वानप्रस्थियों (ब्रह्म-साक्षात्कार हेतु साधना करने की तैयारी के रूप में सामाजिक सक्रिय जीवन से विरत एकान्तवासी) तथा संन्यासियों (परम तत्त्व का साक्षात्कार करने के आदर्श के प्रति अपने को पूर्णरूपेण समर्पित करने हेतु कर्ममय संसार तथा सामाजिक सम्पर्कों का त्याग करने वाले मठवासी) के भी धर्मों का विवरण है। इस प्रकार, मानव विभिन्न परिस्थितियों तथा कालों में सामाजिक जीवन व्यतीत कर सके, इस हेतु स्मृतिग्रन्थ उसका पथ-प्रदर्शन करते हैं।

इन ग्रन्थों या धर्मशास्त्रों में सबसे प्रमुख है मनु-स्मृति। मनु के अनुसार वेदों, स्मृतिग्रन्थों, सन्तों के आचरणों तथा अन्ततः अपने ही शोधित किये हुए विवेक (अन्तःकरण) के माध्यमों से धर्म जाना जाता है। धर्म का आचरण करने से मनुष्य पूर्णता को प्राप्त होता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी, संन्यासी तथा राजा के कर्तव्यों, राजनैतिक शासन के सिद्धान्तों तथा पाप-कर्मों के प्रायश्चित्त-स्वरूप किये जाने वाले व्रत-अनुष्ठानों की मनु ने विस्तार से विवेचना की है। अपने निर्देशों का सार बताते हुए वह कहते हैं कि समस्त धर्मों में आत्मज्ञान सर्वोत्तम है; क्योंकि इससे मानव अमरत्व को प्राप्त होता है। सभी प्राणियों में अपनी आत्मा तथा अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को

देखना समदृष्टि है। इसका अभ्यास करने से आत्म-साक्षात्कार होता है। मनुष्य अकेला ही जन्म लेता है तथा अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अपने कर्मों का फल भी अकेले ही भोगना पड़ता है। परलोक में माता-पिता, पत्नी, सन्तान, मित्र—कोई काम नहीं आता। अन्त में धर्म ही सहायक सिद्ध होता है।

न तो जीवन के प्रति मोह होना चाहिए और न मृत्यु वरण करने का प्रयत्न करना चाहिए। अपना कर्त्तव्य भली प्रकार करते हुए आसक्ति-रहित हो कर जीवन व्यतीत करना चाहिए। धृति (धैर्य, सहनशक्ति), क्षमा, दम (इन्द्रियों पर नियन्त्रण), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (विचारों, शब्दों तथा कर्मों की पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह (मन पर नियन्त्रण), धी (संशय-रहित समझ या बुद्धि), विद्या (सत्य का ज्ञान), सत्य तथा अक्रोध का अभ्यास करना ही धर्म का सारतत्त्व है। कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि कोई भी गलत कार्य गुप्त रूप से किया जा सकता है; क्योंकि आकाश, धरती, जल, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, दिवस, रात्रि और स्वयं अपना हृदय समय आने पर इस बात की गवाही देंगे कि गलत कार्य किया गया है। विचारों के सन्तुलन की स्थिति में मन को नियन्त्रित करते हुए अच्छाई और बुराई दोनों को ही आत्मा के रूप में मानना चाहिए। इस विधि से अधर्म की ओर जाती हुई प्रवृत्तियों को रोका जा सकता है।

केवल आत्मा ही समस्त देवताओं का रूप है। उसी में समस्त वस्तुएँ समाहित हैं। जो समस्त वस्तुओं का नियामक है, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा जिसका साक्षात्कार कुशाग्र बुद्धि से किया जा सकता है, वही परम पुरुष है। जो समस्त प्राणियों में आत्मा को देखता है, उसके लिए सभी वस्तुएँ महत्त्व की दृष्टि

से एक समान हो जाती हैं तथा वह ब्रह्मपद को प्राप्त होता है। कार्यों का कारण में अपगमन (अर्थात् पृथ्वी-तत्त्व जल-तत्त्व में, जल-तत्त्व अग्नि-तत्त्व में, अग्नि-तत्त्व वायु-तत्त्व में, वायु-तत्त्व परम सत्ता में विलीन हो जाता है।) होने पर आधारित ध्यान की पद्धति ही मनुस्मृति में प्रतिपादित की गयी है। मनु को आदेश किसी चिकित्सक के नुसखे की तरह प्रभावोत्पादक माने जाते हैं।

कर्मकाण्ड का अर्थ

कर्मकाण्ड का उद्देश्य तथा विधि

भारत के धर्म का आनुष्ठानिक भाग कर्मकाण्ड है। इसके उद्गम (वेदों के भाग) ब्राह्मण-ग्रन्थों के आदेश हैं। जैमिनि के पूर्वमीमांसासूत्रों में वेदों के कर्मकाण्ड पर बहुत बल दिया गया है। शाबरभाष्य समेत ये सूत्र ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित वैदिक प्रकार के कर्मकाण्ड का शास्त्रीय मूल-पाठ बन गये हैं। परन्तु हिन्दुओं का कर्मकाण्ड केवल वैदिक यज्ञों तक ही सीमित नहीं है। हिन्दू कर्मकाण्ड बहुपार्श्वीय है तथा इसका विस्तार स्मृति-ग्रन्थों, कल्पसूत्रों, आगमों तथा तन्त्रों में हुआ है।

बाह्य कृत्यों में प्रदर्शित धर्म ही कर्मकाण्ड है। इसके द्वारा दैनिक जीवन में बाह्य रूप से धर्माचरण करना तथा धर्म के उद्देश्यों का स्मरण रखना मन के लिए सुसाध्य हो जाता है। एक प्रकार से कर्मकाण्ड धर्म का आधार या चरण है। जिस प्रकार शरीर के लिए चरण अनावश्यक नहीं होते (क्योंकि चरणों पर ही शरीर टिक पाता है) उसी प्रकार कर्मकाण्ड भी धर्म का

अनावश्यक भाग नहीं है। कर्मकाण्ड धर्म का वाह्य रूप है, न कि सारतत्त्व। इसलिए जब कर्मकाण्ड में इसका मुख्य अभिप्राय लुप्त होने लगता है, तब धर्म अपने उत्कृष्ट अर्थों की ऊँचाइयों तक उठने के स्थान पर इसी (कर्मकाण्ड) के स्तर पर निष्क्रिय होने लगता है। यह स्थिति कर्मकाण्ड के उद्देश्यों का ही उपहास है। परन्तु इससे धर्म में कर्मकाण्ड का महत्त्व कम नहीं हो जाता। धर्म का बाहरी प्रेक्षक इसके बारे में अपनी धारणा सर्वप्रथम इसके कर्मकाण्डों तथा समाज में इसकी प्रकट प्रथाओं-पद्धतियों को देख कर ही बनाता है। कर्मकाण्ड धर्म का सामाजिक स्वरूप है जिसके माध्यम से धर्म व्यक्तियों के साथ सार्वजनिक सम्बन्ध स्थापित करता है। धर्म के इसी स्वरूप के कारण समाज और राष्ट्र एक दूसरे के निकट आ कर एक सम्पूर्ण इकाई बन पाते हैं जिसके भाग उद्देश्यों तथा भावनाओं की साम्यता के कारण एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। धर्म के इस सामाजिक तत्त्व का लाभ यह है कि पारस्परिक सद्भाव के कारण भ्रातृसङ्घ या भक्तमण्डली बन जाती हैं और व्यक्ति इनके माध्यम से एकता के सूत्र में बँध जाते हैं। इस प्रकार समाज सुदृढ़ बनता है।

धर्म के इस रूप का एक पक्ष तीर्थ-यात्रा है। तीर्थ-यात्रा का लाभ यह है कि विभिन्न स्थानों की पुरातन परम्पराओं के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न होती है तथा उनका ऐतिहासिक महत्त्व बढ़ जाता है। इस प्रकार उन स्थानों से दूर रहते हुए भी उनके प्रति श्रद्धा होने के कारण व्यक्तियों के मन (सांस्कृतिक और सामाजिक सन्दर्भों में) उनसे जुड़ जाते हैं। इस प्रकार के (धार्मिक) आदेशों के बिना व्यक्तियों के दूर स्थानों पर बसे अपने भाई-बन्धुओं से सम्बन्ध टूटने लगते हैं तथा राष्ट्र अपने

विविध अवयवों को संस्कृति (या समान उद्देश्य) के सामान्य सूत्र में ग्रथित न कर पा सकने के कारण एक जीवन्त उपलब्धि से वञ्चित रह जाता है।

आस्थाओं तथा विश्वासों के प्रतीक के रूप में कर्मकाण्ड व्यक्तियों को दैनिक जीवन में अपने-अपने हृदयों का अन्तरावलोकन करने के लिए तथा बाह्य समाज में अपनी भावनाओं का सम्मान करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार सामाजिक बन्धन मजबूत बनते हैं—विशेषकर तब जबकि व्यक्तियों के उद्देश्यों में समानता होती है। कर्मकाण्ड में आन्तरिक आकांक्षाओं को मूर्त रूप प्राप्त होता है और जीवन के बाह्य रूप को मन की आन्तरिक आकांक्षाओं से सज्जित करके जीवन को अधिक उल्लसित तथा जीने योग्य बना दिया जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि वस्तुओं का प्रत्येक प्रेक्षक उन्हें उनके प्रति अपने विचारों तथा अभिवृत्तियों के रङ्ग में रँग देता है और तब सांसारिक वस्तुएँ अपने वास्तविक रूप में नहीं दिखायी पड़ती हैं। सामान्यतया हम अपने विचारों को दो भागों में विभाजित कर लेते हैं—वाञ्छनीय तथा अवाञ्छनीय। इसका कारण यह है कि हमारी विचार-प्रक्रिया प्रत्येक वस्तु को अपने सापेक्ष मूल्याङ्कन से आवृत कर देती है। वह (विचार-प्रक्रिया) उनके प्रति निष्पक्ष दृष्टिकोण रखने में असमर्थ है।

भारतीय मनीषियों ने इस बात को समझा और कर्मकाण्डों का प्रवर्तन किया ताकि मन अपने अन्दर बाह्य संसार के प्रति किसी अवाञ्छनीय प्रतिक्रिया का प्रक्षेपण न कर सके तथा कर्मकाण्डों के माध्यम से बाह्य पदार्थों में उत्कृष्ट आदर्शों का मानस-दर्शन कर सके। धार्मिक समारोहों की बाह्य क्रियाओं के रूप में कर्मकाण्ड मानव-मन के उच्चतर लक्ष्यों के प्रतीक हैं।

कर्मकाण्ड मानव-मन के मनीवैज्ञानिक तनावों (जिनके साथ यदि ठीक से निर्वाह नहीं किया गया तो मानसिक अस्वस्थता की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं तथा मनोग्रन्थियाँ भी बन सकती हैं) को नियन्त्रित करने के भी उपाय हैं। कर्मकाण्डों के माध्यम से व्यक्ति अपनी भावनाओं को मुखरित करते हैं तथा अपने ही समक्ष उन्हें, मानो, हृदय से निर्मुक्त होता हुआ देख कर अतृप्त कामनाओं से उत्पन्न अस्वाभाविक परिस्थितियों से मुक्त हो जाते हैं। पूजा अथवा यज्ञ के अवसर पर अपने इष्टदेवता के समक्ष मन के सुख-दुःख अभिव्यक्त हो जाते हैं। इससे यह लाभ होता है कि इन कर्मकाण्डों में भाग लेने वाले भक्त-समूह के सम्मुख अपनी मानसिक स्थिति प्रदर्शित हो जाती है तथा इस बात का भी सन्तोष मिलता है कि इष्टदेवता का आह्वान करने के परिणामस्वरूप वे प्रसन्न हो गये हैं तथा उनकी कृपा प्राप्त करने हेतु याचना करने का कार्य भी सम्पन्न हो गया है। पूजा-यज्ञ आदि के समय मन अपनी सीमाओं से मुक्त हो जाता है तथा उसकी सत्ता एवं धारिता के क्षेत्र विस्तृत हो जाते हैं।

मन्दिरों में किया जाने वाला पूजा-पाठ भी एक कर्मकाण्ड-रूप है। इस कर्मकाण्ड के बहुत अच्छे परिणाम निकले हैं। सर्वोत्कृष्ट मूर्तिकला के प्रतिमानों के रूप में वास्तुकला की दृष्टि से भव्य अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ है। भारत में कर्मकाण्ड मात्र पूजा और प्रार्थना के यान्त्रिक कार्य और नित्यचर्या नहीं हैं। कला (जो धर्माचरण का एक रूप भी है) से भी उसका सम्बन्ध है। धर्म मात्र कुछ निश्चित सिद्धान्तों के रूढ़िवादी अभ्यास का विज्ञान नहीं है। यह सामाजिक जीवन में आत्मा की आवश्यकताओं का आकर्षक ढङ्ग से प्रतिनिधित्व करता है।

भारत के तीर्थ-मन्दिर अपने रूप की भव्यता तथा अपनी रचना की कलात्मक पूर्णता के कारण प्रेरणा के स्थायी स्रोत रहे हैं। प्रेक्षकों के मन पर उच्च, अति-विशाल तथा गगनचुम्बी शिखरों वाले मन्दिरों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इन ऊँचे मन्दिरों को देख कर उनके विचार एक रहस्यात्मक वैभव की ऊँचाई तक उठ जाते हैं। प्रसिद्ध मन्दिरों से वास्तुकला को संरक्षण प्राप्त हुआ है। न केवल भक्तों के वरन् कला के निष्पक्ष गुणग्राहकों के लिए भी ये मन्दिर दैनिक जीवन की बाधाओं से मुक्त उदात्त भावनाओं के स्रोत रहे हैं। वेद-उपनिषदों में जिस विराट् पुरुष का गुणगान हुआ है, उसके प्रतीक के रूप में बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण हुआ है। प्रवेश-द्वार से ले कर परम पावन मन्दिर-गर्भ तक मन्दिरों का निर्माण क्रम से इस प्रकार हुआ है मानो वे विराट् के विभिन्न अङ्गों का प्रतिनिधित्व कर रहे हों। इस प्रकार मन्दिर-निर्माण की कला तथा मन्दिर में की जाने वाली उपासना के कर्मकाण्ड में आत्मसाक्षात्कार के परम लक्ष्य का पुट परिलक्षित होता है।

समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना करने हेतु कर्मकाण्ड महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। नैतिकता का एक आवश्यक तत्त्व आत्मसंयम धर्माचरण का एक अपरिहार्य अङ्ग है। धर्म की एक अवस्था के रूप में कर्मकाण्ड विभिन्न प्रकार के अनुशासन, व्रतों, अनुष्ठानों तथा नियमों का पालन करने की आवश्यकता पर बल देते हैं। ये नियम-व्रत आदि मानव-स्वभाव के निम्नस्तरीय आवेगों—प्रवृत्तियों का निरोध करते हैं। बहुरूपी कर्मकाण्ड से सम्बन्धित आचरण के कुछ उदाहरण ये हैं—उचित समय पर नित्य स्नान, व्रत, रात्रि-जागरण, पवित्र तथा साफ वातावरण में तैयार किये हुए तथा भगवान् को समर्पित भोजन का सेवन।

कर्मकाण्ड सम्पन्न करते समय सम्बन्धित व्यक्ति शरीर, मन और वाणी से सभी प्रकार की अपवित्र वस्तुओं से दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार उनके शारीरिक स्वास्थ्य तथा विचारों की उत्कृष्टता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है तथा आध्यात्मिक उपस्थिति की भावना में वे विभोर रहते हैं।

मानव-मन पर कर्मकाण्ड का सबसे अधिक प्रभाव यह पड़ता है कि उसमें आध्यात्मिक चैतन्य की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कर्मकाण्ड लक्ष्य नहीं है। धर्म के विभिन्न रूपों से भिन्न धार्मिक चेतना की उपलब्धि का यह सङ्केतक है। कर्मकाण्ड का उद्देश्य इसी चेतना को उत्पन्न करता है। यदि ऐसा नहीं करता तो यह निरुद्देश्य सिद्ध होता है।

कर्मकाण्डों का विधान इस प्रकार किया गया है कि उन्हें सम्पन्न करने से मन अपनी क्षमताओं को प्रकट करने लग जाता है। जिस प्रकार उचित उपकरणों का प्रयोग करने से निधि (खजाना) प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार कर्मकाण्ड—जो मन का मनोरञ्जन करता है और निरोध भी—की सहायता से जब मन पर जमा हुआ मैल हटा दिया जाता है, तब (मन के) नीचे छिपी हुई दिव्य उपस्थिति की निधि धीरे-धीरे प्रकट होने लगती है। पूजा के कर्मकाण्ड में इष्टदेव की मूर्ति (जिसमें भक्त पूजा-स्थल पर पवित्रता और मनोहरता का वातावरण उत्पन्न करते हुए साक्षात् ईश्वर को ही देखता है), मूर्ति के सामने जलते हुए दीपकों का स्निग्ध प्रकाश, अगरबत्तियों-लोबान आदि की सुगन्धि का शान्त प्रभाव मन और संवेदनाओं को उद्दीप्त करके उन्हें एकीकरण, सङ्घटन तथा विभ्रान्त कर देने वाली विविधता से

मुक्त स्वतन्त्रता से सम्बन्धित अन्तःप्रवाही विचारों को ग्रहण करने के योग्य बना देते हैं।

सर्वव्यापक परम सत्ता की उपस्थिति की चेतना उत्पन्न करने हेतु कर्मकाण्ड विविध प्रकार की तकनीकें हैं। यज्ञ की विशद क्रियाओं को सम्पन्न करते हुए गम्भीरता का वातावरण तो उत्पन्न होता ही है, साथ ही इस बात की भी अनुभूति होने लगती है कि जो-कुछ क्रिया सम्पन्न की जा रही है, वह अत्यन्त वास्तविक है। मन को यज्ञ की व्यापक प्रक्रियाओं में लीन करना पड़ता है, इसलिए यज्ञोत्तर विचारों के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। परिणामस्वरूप मन एकाग्रता की स्थिति में संस्थित हो जाता है।

प्रत्येक काल में प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्मकाण्ड एक समान नहीं रहते। जीवन की किस अवस्था में हम हैं, समाज के किस वर्ग के हम सदस्य हैं, किन परिस्थितियों में कर्मकाण्ड सम्पन्न कर रहे हैं, कर्मकाण्ड सम्पन्न करने का उद्देश्य, समय और स्थान क्या है—इन बातों से कर्मकाण्ड का स्वरूप निर्धारित होता है। इस प्रकार कर्मकाण्ड सापेक्ष सत्य है, निरपेक्ष सत्य नहीं। स्मृतिग्रन्थों, इतिहासों और पुराणों में इन सबका विस्तार से वर्णन किया गया है।

पूजा

पूजा एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य (कर्मकाण्ड) है। उपासना और चिन्तन करने के उद्देश्यों से किसी प्रतीक, यन्त्र या मूर्ति में ईश्वर का आह्वान करने को पूजा कहते हैं। पूजा के कर्मकाण्ड में ईश्वर-भक्त के लिए एक सम्माननीय अतिथि या राजा का ही

रूप होता है। उसका भव्य सत्कार किया जाता है तथा वह श्रद्धा का पात्र होता है। इस कर्मकाण्ड में ईश्वर की उपासना बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की हो सकती है। बाह्य पूजा मन्दिरों तथा घरों के पवित्र-स्थलों में सम्पन्न की जाती हुई देखी जा सकती है।

आह्वान की प्रक्रिया मूर्ति, प्रतीक या पूजास्थल में कृपा-पूर्वक प्रकट होने के लिए ईश्वर को दिया गया निमन्त्रण है। दिव्य अतिथि का आह्वान तथा स्वागत-सत्कार मुख्यतया इस क्रम से किया जाता है—(१) ध्यान—इष्टदेव के स्वरूप का मानसिक ध्यान। (२) आवाहन—मूर्ति या प्रतीक में भगवान् की भव्य उपस्थिति की कल्पना करना। (३) आसन—इष्टदेव को उत्थित आसन प्रदान करके उस पर बिठलाना। (४) पाद्य—इष्टदेव का चरण-प्रक्षालन करना (जैसा कि भारत में अतिथि का स्वागत करते समय किया जाता है। (५) अर्घ्य—जल, दूध, दही, कुशाग्रआदि आदरपूर्वक अर्पित करके विशेष रूप से सत्कार करना। (६) स्नान। (७) वस्त्र—परिधान अर्पित करना। (८) यज्ञोपवीत—जनेऊ धारण कराना। (९) गन्ध—सुगन्धि, चन्दन अर्पित करना। (१०) पुष्प—फूल चढ़ाना। (११) धूप—धूप, अगरबत्ती आदि जलाना। (१२) दीप—आरती उतारना। (१३) नैवेद्य—भोजन अर्पित करना। (१४) ताम्बूल—खाने के लिए पान अर्पित करना। (१५) नीराजन—इष्टदेवता के सामने कपूर जलाना। (१६) सुवर्णपुष्प—कोई उपहार, विशेष रूप से स्वर्णभूषण, अर्पित करना। इस क्रम से पूजा करने के ये सोलह प्रकार

(षोडशोपचार) हैं। अन्त में इष्टदेव से प्रार्थना की जाती है कि वे प्रतीक या मूर्ति से विदा हो जायें (विसर्जन)।

प्रत्येक क्रम के अनुसार पूजा करते समय सम्बन्धित मन्त्रों का पाठ किया जाता है। इन मन्त्रों से पता चलता है कि पूजा का कौन-सा क्रम चल रहा है। बड़े-बड़े मन्दिरों में इष्टदेवता मूर्ति में स्थायी रूप से निवास करते हैं और मन्दिर दिव्य प्रकटीकरण के लिए स्थायी देव-स्थान बन जाते हैं। भक्तों के लिए वे तीर्थ-स्थानों का रूप ले लेते हैं। इन मन्दिरों में इष्टदेव की पूजा करते समय नृत्य और सङ्गीत (कण्ठ-सङ्गीत तथा वाद्यसङ्गीत दोनों ही) से उनका मनोरञ्जन भी किया जाता है। उषाकाल में इष्टदेव को आनुष्ठानिक विधि से जगाया जाता है तथा दिन के सारे अनुष्ठान पूरे करने के बाद रात्रि को सुलाया भी जाता है।

विशेष उत्सवों में मन्दिर-विग्रह में राजाधिराज के रूप में विराजमान इष्टदेव को विशाल शोभा-यात्रा निकाल कर घुमाया जाता है। पूजा के समय उपासक विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ प्रदर्शित करता है। ये मुद्राएँ उसकी भावनाओं तथा पूजा के उद्देश्यों की सूचक हैं। जिस प्रकार नृत्य करते समय विभिन्न प्रकार के अर्थगर्भित सङ्केत (अभिनय) किये जाते हैं, उसी प्रकार पूजा के समय मुद्राओं के माध्यम से पूजा के आन्तरिक महत्त्व और उद्देश्यों की ओर सङ्केत किया जाता है। इष्टदेव के रूप के अनुकूल अपने को बनाने हेतु उपासक न्यास करता है। न्यास के द्वारा वह साकार ईश्वर के विभिन्न अङ्गों को अपने शरीर के तत्तद्स्थानीय अङ्गों में स्थापित करता है। यह पिण्डाण्ड के साथ ब्रह्माण्ड को समायोजित करने का प्रतीक है। यह दिव्य

सत्ता का साक्षात्कार करने के परिणामस्वरूप सर्वव्यापक बन जाने के क्रमबद्ध प्रयत्न की एक प्रक्रिया है ।

आभ्यन्तर पूजा मानसिक स्तर का कर्मकाण्ड है और यह उपर्युक्त विधियों से बाह्य उपासना की तरह ही की जाती है । मानस पूजा में इष्टदेव को अर्पित करने के लिए भौतिक पदार्थों की आवश्यकता तो नहीं पड़ती, परन्तु बाह्य पूजा की समस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ इसमें अन्तर्विष्ट हैं । पुसलर नयनार एक शैव सन्त थे । वे मानसिक स्तर पर ही मानसिक ईंटों तथा गारे से इष्टदेव का मन्दिर बनाया करते थे । मानसिक रूप से ही मन्दिर में इष्टदेव की मूर्ति स्थापित करते थे । उन्हें इसका वही फल प्राप्त होता था जो उन्हें बाह्य पूजा से प्राप्त होता । महाभारत में अगस्त्य मुनि द्वारा भौतिक पदार्थों की सहायता के बिना मानसिक स्तर पर यज्ञ सम्पन्न करने का वर्णन मिलता है । इस मानसिक यज्ञ के फलस्वरूप जो चमत्कार हुआ, उसे देख कर देवता भी चकित रह गये । मानस पूजा के उच्चतर रूपों में बाह्य पूजा के उपर्युक्त क्रम (षोडशोपचार) को अपनाने की अनिवार्यता नहीं है । न ही यह आवश्यक है कि बाह्य-पूजा की विधि के अनुसार पूजन-सामग्री एकत्र करके व्यवस्थित की जाये । मानस-पूजा बाह्य-पूजा की अपेक्षा सरल है, परन्तु ध्यान के द्वारा आन्तरिक आत्म-समर्पण की भावभूमि पर विचारों को एक बिन्दु पर एकाग्र करने की अपेक्षा अधिक सङ्केन्द्रित किया है । आभ्यन्तर पूजा की यह चरम परिणति है ।

भगवन्नाम या मन्त्र का जप अधिकांशतः एक मानसिक कर्मकाण्ड है, यद्यपि साधना की प्रारम्भिक स्थितियों में यह

सम्बन्धित चिन्तन से सम्बद्ध एक मौखिक प्रक्रिया के रूप में होता है। मन्त्र इष्टदेव का एक सघन ध्वनि-प्रतीक है। मन्त्र का एक देवता तथा एक ऋषि होता है। वह किसी विशेष छन्द में बद्ध होता है। मन्त्र-जप प्रारम्भ करने में पहले देवता, ऋषि तथा छन्द का मन ही मन स्मरण या मौखिक रूप से उच्चारण करना चाहिए। ऐसा करने से इष्ट देवता की शक्ति, मन्त्र की शब्द-शक्ति तथा मन्त्र-द्रष्टा ऋषि का मूक्ष्म रूप से आवाहन हो जाता है। इस त्रिगुण-शक्ति का मानसिक रूप से आवाहन कर लेने से साधना में सफलता प्राप्त करने में सहायता मिलती है, यद्यपि इस (सफलता) के लिए स्वयं साधक का आन्तरिक प्रयत्न तो आवश्यक है ही।

मन्त्र में अक्षरों का संयोजन इस प्रकार किया जाता है कि उससे एक विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। मन्त्र का शुद्ध उच्चारण करने से एक रूप निर्मित होता है, जिसका बाह्य प्रक्षेपण अन्तरिक्ष में तथा आन्तरिक प्रक्षेपण मन में होता है। यह रूप मन्त्र के इष्टदेव की ही रूपरेखा होती है। मन्त्र में एक या कई वर्ण हो सकते हैं। एक अक्षर के मन्त्र को बीज-मन्त्र कहते हैं। मन्त्र जितना ही छोटा होता है, उतना ही उसका प्रभाव अधिक होता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि छोटे मन्त्र में शक्ति बहुत अधिक सङ्केन्द्रित रहती है तथा इसमें सम्बन्धित विचारों को मन्त्र की ओर निर्देशित करने की सुविधा रहती है।

सर्वश्रेष्ठ मन्त्र प्रणव है जिसमें (अ, उ तथा म—इन तीन ध्वनियों से बना हुआ) एक ही स्वर—ॐ रहता है। नाद के

क्षेत्र में यह स्वर परम तत्त्व का प्रतीक है। प्रणव मन्त्र का जप करने में विचारों तथा स्नायु-तन्त्र से प्रवाहित होने वाली ऊर्जाओं में सामञ्जस्य उत्पन्न होता है। व्यक्तित्व में सन्तुलन की यह स्थिति मन को विकर्षण या ध्यान-भङ्ग (रजस्) की स्थिति से मुक्त करके सत्त्व (सुस्पष्ट संस्वरिता) में स्थिर कर देती है। सचेतन सन्तुलन की इसी स्थिति में सर्वव्यापी परम सत्ता का प्रकाश प्रकट होता है—मानो झील के स्वच्छ स्थिर जल में चमकते हुए सूर्य का स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो।

प्रार्थना

प्रार्थना और जप में थोड़ा अन्तर है। जप में मन्त्र के निश्चित शब्दों का ही उच्चारण किया जाता है। प्रार्थना किसी भी भाषा में, किसी भी प्रकार की गयी अपने भावों की अभिव्यक्ति होती है। प्रार्थना मुख्यतया ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए उससे की गयी याचना है। साधारण प्रार्थना परोक्ष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए—यथा, स्वास्थ्यलाभ या किसी भौतिक वस्तु की प्राप्ति हेतु की जा सकती है। परन्तु वास्तविक आध्यात्मिक प्रार्थना में ईश्वर से किसी सांसारिक पदार्थ की याचना नहीं की जाती। हाँ, ईश्वर से उसी को प्राप्त करने हेतु याचना की जाती है। यद्यपि प्रार्थना शब्दों, वाक्यांशों या वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती है; परन्तु सदैव ऐसा हो, यह आवश्यक नहीं है। प्रार्थना मानसिक भी हो सकती है। ईश्वर के प्रति प्रेम तथा श्रद्धा की भावनाओं में डूबा हुआ भक्त गहन मानसिक एकाग्रता की सहायता से भगवत्कृपा की याचना मन ही मन (आन्तरिक रूप से) भी कर सकता है। धर्मग्रन्थों में

देवकुल के अनेक देवताओं को सम्बोधित विभिन्न प्रार्थनाएँ मिलती हैं । अधिकतर प्रार्थनाएँ सीधे परम तत्त्व को ही सम्बोधित की गयी हैं ।

सामान्यतया इष्टदेवता का उन्नयन करके उसे परम सत्ता के समकक्ष या सर्वोच्च दिव्य-सत्ता मानते हुए मान-सम्मान अर्पित किया जाता है । इस प्रकार भक्त के मन में इष्टदेवता के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के लिए स्थान नहीं रह जाता । यह लक्ष्य इस प्रकार सत्य का सङ्केतक है कि अन्ततः एक ही ईश्वर की सत्ता है जिसके विभिन्न रूप ही उपास्य इष्टदेवता हैं । भावनाओं की गहनता में जब आध्यात्मिक अनुकूलता की स्थिति प्राप्त हो जाती है (यही प्रार्थना में निहित उसकी उत्प्रेरक शक्ति है) तब प्रार्थना भगवत्कृपा को उपासक के हृदय की ओर आकृष्ट कर लेती है । अन्तरतम से उद्भूत भावनाएँ यथार्थता के बहुत निकट होती हैं, अतः वे शीघ्र ही फलवती होती हैं । पूजा और यज्ञ के सर्वोत्तम रूप जप और प्रार्थना हैं, क्योंकि इनमें बाह्य पदार्थों या परिस्थितियों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता । प्रार्थना के द्वारा आत्म-समर्पण करके या मन्त्रजप द्वारा अपने व्यक्तित्व को अनुकूल बना कर अपने को इष्टदेवता के आश्रित बना लेना ही प्रार्थना का उद्देश्य है ।

बड़ी प्रार्थना-सभाओं को सत्सङ्ग कहा जाता है । इनमें प्रार्थना के अलावा पूजा तथा प्रवचन के कार्यक्रम भी जोड़े जा सकते हैं ।

संस्कार

धर्म के कर्मकाण्डी भाग के अन्तर्गत धार्मिक उत्सवों-समारोहों के एक समूह को संस्कार (शुद्धिकर अनुष्ठान), क्रिया (पवित्र

कार्य) और व्रत (नियम) कहते हैं। संस्कारों का सम्बन्ध जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से, क्रियाओं का वर्ष की ऋतुओं से तथा व्रतों का सम्बन्ध विशेष अवसरों से होता है। जीवन की अवस्थाएँ हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास। प्रारम्भिक जीवन से सम्बन्धित मुख्य संस्कार तथा इन्हें सम्पन्न करने के अवसर इस प्रकार हैं—(१) जातकर्म—जब शिशु का जन्म होता है। (२) नामकरण—जब शिशु का प्रथम बार नाम रखा जाता है। (३) अन्नप्राशन—जब बच्चे को पहली बार ठोस भोजन दिया जाता है। (४) विद्यारम्भ—जब बच्चे को अक्षर-ज्ञान—शिक्षा की पहली सीढ़ी—कराया जाता है। (५) उपनयन—बच्चे के बड़े हो जाने पर जब उसे यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है तथा गायत्री-मन्त्र की दीक्षा दी जाती है। उपनयन-संस्कार से ही आध्यात्मिक जीवन की प्रथम अवस्था का प्रारम्भ होता है। इसी अवस्था से ब्रह्मचर्य का जीवन प्रारम्भ होता है। बालक समाज के किस वर्ग का सदस्य है, इस दृष्टिकोण से उसे जिस प्रकार की धार्मिक शिक्षा तथा ज्ञान की आवश्यकता होती है, उसे प्रदान करने की दृष्टि से उसे (बालक को) गुरु के संरक्षण में रख दिया जाता है। (६) समावर्तन—जब बालक शिक्षा समाप्त करके घर लौटता है, तब यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। वर्त्तमान समय में इस संस्कार का महत्त्व समाप्त हो गया है; क्योंकि अब गुरु के पास रह कर शिक्षा नहीं प्राप्त की जाती। अतः औपचारिकता निभाने के लिए यह संस्कार विवाह के समय सम्पन्न कर दिया जाता है। (७) विवाह—सामान्य-तया विद्याध्ययन की (ब्रह्मचर्य) अवस्था समाप्त होने पर विवाह-

संस्कार होता है तथा नवयुवक ब्रह्मचारी गृहस्थी बन कर घर पर ही रहने लगता है ।

यद्यपि विद्याध्ययन के बाद गृहस्थाश्रम में जीवन-यापन करना अधिकतर एक सामान्य बात मानी जाती है, परन्तु कुछ अपवादिक विद्यार्थी ऐसे भी होते हैं जिनमें आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की ललक बहुत प्रबल होती है । उन्हें सांसारिक जीवन (प्रवृत्ति) में रुचि नहीं होती । वे निवृत्तिमार्ग के राही बन कर आध्यात्मिक लक्ष्य को ही अपना जीवन पूर्ण रूप से समर्पित कर देते हैं । ऐसे विद्यार्थी ब्रह्मचर्य की अवस्था की समाप्ति के बाद नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में गुरु की आजीवन सेवा करते हुए या संन्यासी के रूप में पूर्णकालिक आध्यात्मिक जिज्ञासु की अवस्था में प्रवेश कर सकते हैं ।

वृद्ध होने पर गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सक्रिय जीवन से निवृत्त हो कर तथा सम्बन्धी-मित्रों के सम्पर्क-बन्धन से अपने को मुक्त करके वानप्रस्थ का अतिसंयमी जीवन व्यतीत करे । यह अवस्था जीवन की अन्तिम अवस्था—संन्यास—में प्रवेश करने की तैयारी है । संन्यास की अवस्था में साधक सांसारिक जीवन के समस्त बन्धनों से मुक्त हो कर पूर्ण रूप से ईश्वर के चिन्तन में अथवा इस सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक कार्यों में रत हो जाता है । जीवन का लक्ष्य है ईश्वर-साक्षात्कार । इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीवन की ये विभिन्न अवस्थाएँ उपक्रमात्मक प्रक्रियाएँ हैं । सम्पूर्ण जीवन ईश्वर का साक्षात्कार करने हेतु आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने की सतत प्रक्रिया है । जीवन एक यात्रा है जिसका अन्तिम पड़ाव है पूर्णता की प्राप्ति ।

ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ की अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करने का विधान है। गृहस्थ तथा ब्रह्मचारी दोनों के लिए तीन बार सन्ध्या-वन्दन करना अनिवार्य है। सन्ध्या-वन्दन मुख्यतया सूर्य की प्रार्थना है जिसमें ईश्वर के देदीप्यमान मुख का मानसदर्शन करके उसकी पूजा की जाती है। अपने इष्टदेव की दैनिक उपासना करना भी गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। चाहे वह घर पर हो या घर से बाहर, यह उपासना हर परिस्थिति में करनी ही होती है। यह दैनिक उपासना बड़े-बड़े मन्दिरों में की जाने वाली उपासना की तरह विस्तृत न हो कर उसका संक्षिप्त रूप है यद्यपि इसमें (दैनिक उपासना में) उपासना की प्रक्रिया के समस्त आवश्यक तत्त्व निहित होते हैं।

गृहस्थ के दैनिक कार्यों का महत्त्वपूर्ण भाग हैं पञ्चमहायज्ञ। इनमें से प्रथम है ब्रह्मयज्ञ अर्थात् धर्मग्रन्थों का अध्ययन करने तथा सुपात्र विद्यार्थियों को उनका ज्ञान प्रदान करने के रूपों में वेदों तथा उनके द्रष्टा ऋषियों को समर्पित यज्ञ। द्वितीय है देव-यज्ञ अर्थात् पवित्र अग्नि में आहुतियाँ डाल कर देवों को निवेदित यज्ञ। तृतीय है पितृयज्ञ अर्थात् पूर्वजों को प्रदत्त आहुतियाँ। चतुर्थ है मनुष्ययज्ञ अर्थात् अतिथि-सेवा। पञ्चम यज्ञ है भूतयज्ञ अर्थात् पशुओं, विशेष रूप से गायों तथा पक्षियों को भोजन देना। ये पाँच कृत्य गृहस्थों के लिए अत्यावश्यक हैं। इन्हें महायज्ञ की संज्ञा देना उचित ही है।

इनके अतिरिक्त कुछ धार्मिक कृत्य ऐसे होते हैं जिन्हें प्रति-माह सम्पन्न किया जाता है, जैसे प्रत्येक अमावास्या के दिन पूर्वजों को आहुतियाँ देना तथा प्रत्येक शुक्लपक्ष की एकादशी को उप-

वास रखना। प्रतिवर्ष किये जाने वाले धार्मिक कृत्य ये हैं—राम-नवमी, कृष्णजयन्ती, गणेश-चतुर्थी, नवरात्र पूजा, दीपावली (जब लक्ष्मी की विशेष रूप से पूजा की जाती है), स्कन्दषष्ठी (जिस दिन स्कन्द ने देवताओं के शत्रुओं का नाश किया था), मकर संक्रान्ति (जब सूर्य मकर राशि में प्रवेश करता है), रथ-सप्तमी, बसन्तपञ्चमी (जब वसन्त ऋतु में फसलों की कटाई होती है), शिवरात्रि, होली (जिस दिन शिव ने कामदेव को भस्म किया था) के त्यौहार मनाना; वार्षिक पितृ-तर्पण करना (महालय श्राद्ध); विष्णु के विभिन्न अवतारों के सम्बन्ध में पवित्र माने जाने वाले दिनों को तथा महात्माओं के जीवन में पवित्रता अथवा ज्ञान के प्रकटीकरण से सम्बन्धित अवसरों पर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना तथा पूजा करना आदि।

मृत आत्माओं के नाम पर किये जाने वाले कर्मकाण्ड भी अनेक हैं। दाहकर्म-संस्कार से इनका प्रारम्भ होता है। भगवत्प्राप्ति की स्थिति तक मृत आत्मा के ऊर्ध्वारोहण सम्बन्धी कृत्य इन कर्मकाण्डों की शृङ्खला की अन्तिम कड़ियाँ हैं। ये कर्मकाण्ड अत्यन्त जटिल हैं तथा इन्हें केवल वे ही व्यक्ति सम्पन्न कर सकते हैं जिन्हें इनकी विधियों की पूर्ण जानकारी है।

जीवन की अवस्थाओं से सम्बन्धित नियम

पुरुषार्थ

भारत में मानव-जीवन को भौतिक क्षेत्र (अन्नमय जीवात्मा) से परमानन्द की प्राप्ति की ओर आत्म-उत्कर्ष की एक पुरोगामी प्रक्रिया माना गया है। मानवीय मूल्य तथा लक्ष्य को चार

पुरुषार्थों में विभाजित किया गया है। ये पुरुषार्थ हैं : (१) धर्म—सदाचार तथा उत्तमता को व्यवहार में लाना, (२) अर्थ—अर्थोपार्जन या आवश्यक भौतिक मूल्यों का उपार्जन करना, (३) काम—उत्तम साधनों द्वारा अनुज्ञेय कामनाओं की पूर्ति करना, तथा (४) मोक्ष—अन्त्य मुक्तिके लिए प्रयत्न करना। यह विश्लेषण ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में व्यक्तियों के विभिन्न स्तरों की समझ पर आधारित है।

महाभारत में धर्म के सिद्धान्त का संक्षेप इस प्रकार बताया गया है—दूसरों के साथ वह व्यवहार न करो जो व्यवहार तुम अपने साथ किया जाना नहीं चाहते। जो अपने लिए प्रतिकूल है, दूसरों के साथ अपने व्यवहार में उसका स्थान नहीं होना चाहिए (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्)। धर्म की दूसरी परिभाषा यह है कि यह वह आचरण है जो इहलोक में समृद्धि (अभ्युदय) तथा परलोक में आध्यात्मिक धन्यता (निश्चेयस) की प्राप्ति में सहायक होता है। वह उदार स्वभाव अथवा मनोवृत्ति ही धर्म है जिससे संसार में अन्यो को अपनी सन्तुष्टि का साधन न मान कर लक्ष्य माना जाता है। इस प्रकार धर्माचरण मात्र कर्मकाण्ड नहीं है।

नैतिकता बाह्य कर्मकाण्डों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। नैतिक कार्य तभी किया जा सकता है जब मन की दशा भी नैतिक हो। नैतिक भावनाओं तथा नैतिक कार्यों में वही अन्तर है जो स्वभाव और आचरण में होता है। हमारा नैतिक दृष्टिकोण इस सामान्य मत पर आधारित है कि संसार उस परिवार से बहुत बड़ा है जिससे हम साधारणतया परिचित होते हैं। हमारा अस्तित्व बड़े-बड़े रहस्यों से आवृत है तथा ऊपर से जितना जटिल दिखायी

पड़ता है, उससे भी कहीं अधिक जटिल है। तार्किक सीमाओं की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई वैश्व दृष्टि के अनुसार समस्त प्राणी एक सार्वभौम, विश्वव्यापक सहकारी जीवन की एक ही इकाई हैं। व्यक्ति और सामाजिक जीवन के अपेक्षाकृत छोटे दायरे में इस तथ्य को स्वीकार कर लेना ही धर्म है। इस सिद्धान्त का तिरस्कार करना ही अधर्म है। धर्म ब्रह्माण्ड की सञ्चलित संरचना को उसी प्रकार सम्पोषित करता है जिस प्रकार आकर्षण-शक्ति भूतद्रव्यों के घनत्व को सँभालती है। अधर्म इस संरचना में विघटन की स्थिति उत्पन्न करता है। यही स्थिति सर्वव्यापक अस्वास्थ्य की स्थिति है। यदि धर्म स्वास्थ्य है, तो अधर्म रोग है।

धर्म किसी विशेष देश या व्यक्तियों का पन्थ या रीति-रिवाज नहीं है। यह एक शाश्वत नियम है। समस्त गौण धर्म जिनमें सत्कर्म और उपासना के तत्त्व होते हैं, तभी सार्थक बन पाते हैं जब उनका ब्रह्माण्ड के सार्वभौम धर्म से सामञ्जस्य होता है। अर्थोपार्जन (अर्थ), कामनाओं की पूर्ति (काम), तथा भुवि-प्राप्ति (मोक्ष) धर्म पर ही आधारित रहते हैं। धर्म ही समस्त व्यावहारिक जीवन का शैल-आधार है। अर्थ, कामादि से सम्बन्धित हमारे प्रयास तब तक असफल होते रहेंगे, जब तक हम इस सत्य को स्वीकार नहीं कर लेंगे कि व्यक्ति ब्रह्माण्ड के साथ सह-विस्तृत (Co-Extensive) है।

आश्रम

उपर्युक्त पुरुषार्थ-चतुष्टय के अध्यवसाय में जीवन का समूहीकरण कर देना भारत के प्राचीन नीतिशास्त्र का आधार

हैं। हमारे प्रत्येक कार्य इन चारों में से किसी-न-किसी पुरुषार्थ से सम्बन्धित रहते हैं। भारत की नीतिपरक पद्धति का सम्बन्ध ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी या संन्यासी के रूपों में जीवन व्यतीत करने के ढङ्ग से है। ये रूप क्रमशः जीवन की चार अवस्थाओं (इन्हें आश्रम भी कहते हैं)—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वान-प्रस्थ तथा संन्यास—से सम्बन्धित हैं। धर्म-ग्रन्थों के अनुसार इन चारों अवस्थाओं से इतर किसी अन्य अवस्था में व्यक्ति जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

ब्रह्मचर्य जीवन की प्रथम अवस्था है जिसमें गुरु के निर्देशन में पूर्ण संयम तथा ब्रह्मचर्य के व्रतों का पालन करते हुए वेदों तथा अन्य धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया जाता है। क्षत्रिय विद्यार्थियों को अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करने का तथा सामान्य प्रशासन का प्रशिक्षण दिया जा सकता है। ब्रह्मचर्य-अवस्था कठोर अनुशासन तथा परीक्षा का जीवन है। ब्रह्मचारी अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, शौच (शुद्धता तथा स्वच्छता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा गुरु-सेवा के सिद्धान्तों का पालन करता है। ये सिद्धान्त उसके जीवन के सञ्चटक हैं। ब्रह्मवर्चस् (आध्यात्मिक दीप्ति) से उसका व्यक्तित्व दीप्त रहता है। आत्म-नियन्त्रण से ही उसे यह दीप्ति प्राप्त होती है। उसके देदीप्यमान व्यक्तित्व के कारण ही उसे अग्निमाणवक कहा जाता है।

ब्रह्मचर्यावस्था में धर्म का सञ्चय किया जाता है, जबकि गृहस्थाश्रम में कामनाओं की पूर्ति तथा अर्थोपार्जन के लिए धर्म का संरक्षण किया जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम में अर्जित ज्ञान को

गृहस्थाश्रम में व्यवहार में लाया जाता है। अर्थ और काम धर्म द्वारा निर्दिष्ट होने चाहिए। विज्ञान-सम्मत इस नियम का पालन करने से कामनाओं का उदात्तीकरण (परिष्कार) हो जाता है (जो कामनाओं के दमन, अधोगमन तथा प्रतिस्थापन से भिन्न है)। गृहस्थ मानव-जीवन के पहिये की धुरी है। इसी पर समाज का कल्याण आधारित रहता है। वह अपने जीवन में सामाजिक कर्त्तव्यों, व्यक्तिगत कामनाओं तथा आध्यात्मिक आकांक्षा में सन्तुलन बनाये रखता है। पञ्चमहायज्ञों के रूप में उनके कर्त्तव्यों के बारे में बताया जा चुका है। ब्राह्मण-जाति के गृहस्थ के लिए यह एक सामान्य नियम है। क्षत्रियों का प्रधान कर्त्तव्य सैन्य-सेवा तथा शासन द्वारा देश के प्रशासन में योगदान देना है। वैश्य (व्यापारी-वर्ग) तथा शूद्र (सेवक-वर्ग) समाज के सम्पोषण के लिए क्रमशः उसकी आर्थिक आवश्यकताओं तथा श्रम-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

चार वर्गों में समाज के वर्गीकरण का उद्देश्य जन्म तथा आनुवंशिकता के आधार पर अलग-अलग वर्गों में पार्थक्य की स्थिति उत्पन्न करना नहीं है (यद्यपि बाद में ऐसा ही समझा जाने लगा) वरन् सहकारी जीवन की ऐसी पद्धति का तर्कसङ्गत विकास करना है जिससे अपनी-अपनी अभिरुचियों, ज्ञान तथा क्षमताओं के अनुरूप व्यक्ति के योगदान तथा गुणों पर आधारित श्रम-विभाजन के माध्यम से समाज को समृद्ध बनाया जा सके तथा उसकी सुरक्षा का आवश्यक प्रबन्ध किया जा सके। स्वभाव (व्यक्ति की अन्तर्निहित प्रकृति) ही स्वधर्म (कर्त्तव्य) को निर्धारित करता है।

वानप्रस्थ-आश्रम में समाज के आकर्षण से अपने को मुक्त रखने का कर्त्तव्य ही प्रधान होता है। अर्थ और काम वानप्रस्थी के मन में किसी प्रकार की रुचि उत्पन्न नहीं करते। मन मोक्ष के पुष्प के रूप में धर्म की कलिका के स्फुटित होने की ही आकांक्षा करता है। गृहस्थाश्रम में जिन कर्त्तव्यों का बहुत महत्त्व होता है, प्रातिभासिक जगत् में वे सापेक्ष हैं और यद्यपि दिक्काल के क्षेत्र में ऐन्द्रिक ज्ञान तथा मानसिक संज्ञान (Cognition) के लिए वे उपयोगी हैं, परन्तु उनसे उस परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता है जिसके लिए आत्मा लालायित रहती है तथा केवल जिससे ही आत्मा को आत्यन्तिक तुष्टि प्राप्त होती है। वानप्रस्थी तप और मानसिक उपासना के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार करने के लिए कटिबद्ध रहता है।

उपनिषदों के कुछ भागों तथा आरण्यक-ग्रन्थों में आध्यात्मिक अनुशासन के प्रति समर्पित साधकों द्वारा किये जाने वाले चिन्तन-मनन का विस्तृत वर्णन है। संहिता-ग्रन्थों में ब्रह्म-चारियों, ब्राह्मणग्रन्थों में गृहस्थों तथा आरण्यक-ग्रन्थों में वानप्रस्थियों के लिए उपयोगी सामग्री है। संन्यास की अवस्था ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ की अवस्थाओं का चरम उत्कर्ष है। संन्यास का अर्थ है सांसारिक कर्त्तव्यों तथा कामनाओं का पूर्ण त्याग करके उपनिषदों में वर्णित परम तत्त्व का सर्वोच्च चिन्तन-मनन करते हुए जीवन व्यतीत करना।

महाभारत और मनुस्मृति के अनुसार संन्यास सामाजिक परम्पराओं से असम्बद्ध एक पूर्णरूपेण आध्यात्मिक अवस्था थी जिसमें वानप्रस्थी प्रवेश करता था। धीरे-धीरे संन्यास एक

सम्प्रदाय बन गया जिसके माध्यम से संन्यासी विभिन्न समूहों में अपने धर्मसंघों (Order) के प्रति अपनी निष्ठा के आधार पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हो गये। इस प्रकार वे समाज का एक वर्ग बन गये। व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना के अतिरिक्त उनका मुख्य कार्य ज्ञान का स्वैच्छिक प्रचार-प्रसार हो गया। सामाजिक जीवन के साथ इस समझौते का कारण केवल इतना ही नहीं था कि परिवर्तित होते हुए समाज में उत्पन्न एक विशिष्ट दशा के कारण सामान्य जन पूर्ण एकांत के जीवन को अव्यावहारिक मानने लगे थे, वरन् यह भी था कि समाज ने संन्यासियों को वैसा संरक्षण देना बन्द कर दिया था जिस पर निर्भर रहते हुए प्राचीन काल में वे दूसरों पर अपने सम्पोषण के उत्तरदायित्व का बोझा डाले बिना निर्वाह कर लेते थे।

वस्तुतः संन्यास सामाजिक वर्गीकरण न हो कर एक आध्यात्मिक स्थिति है, जिसमें संन्यासी सांसारिक सहायता के स्रोतों में किसी प्रकार की रुचि न रखते हुए परम तत्त्व पर पूर्ण रूप से निर्भर होने की कला सीखता है। संन्यासी इस आदर्श स्थिति में एकाएक नहीं पहुँच जाता। इसी कारण संन्यास की चार अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम तीन अवस्थाओं—कुटीचक, बहूदक तथा हंस—में संन्यासी किसी निश्चित आवास में रहता है। इन अवस्थाओं में वह उत्तरोत्तर व्यक्तिगत सुख-सुविधा की आवश्यकताओं के बन्धन से अधिकाधिक मुक्त होता जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक परवर्ती अवस्था में वह अपने ऊपर अपेक्षाकृत अधिक बन्धन लगा लेता है। चतुर्थ अवस्था है—परमहंस। इस अवस्था में संन्यासी व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकताओं के बन्धन से पूर्णरूप से मुक्त हो कर पूर्ण आत्म-

निर्भरता की स्थिति में शुद्ध भगवच्चिन्तन की भावभूमि पर संस्थित रहता है। संन्यास की दो अन्य अवस्थाएँ भी होती हैं—तुरीयातीत तथा अवधूत। इन अवस्थाओं में संन्यासी भौतिक सुख-साधनों के प्रति उदासीन रहता है तथा स्वतः ही मिली हुई किसी भी वस्तु से सन्तुष्ट हो जाता है। अधिकतर वह शरीर तथा आसपास के वातावरण से परे, उच्च स्तर की चेतना की स्थिति में रहता है।

संन्यास-भाव का उदय चार कारणों से होता है। वैराग्य-संन्यासी वह है, जो अपने संस्कारों द्वारा प्रेरित किये जाने पर संन्यास ग्रहण करता है। धर्मग्रन्थों का गहन अध्ययन करने तथा अभिप्रायों को पूर्णरूपेण समझ लेने के परिणाम-स्वरूप आध्यात्मिक आदर्श की सत्ता को स्वीकार करता हुआ जो साधक संन्यास ग्रहण करता है, वह ज्ञान-संन्यासी कहलाता है। संसार का सुख भोगने तथा साथ ही सद्ग्रन्थों के अध्ययन के परिणाम-स्वरूप गम्भीर विद्वत्ता अर्जित करने के पश्चात् जो संन्यासी बनता है, वह ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी कहलाता है। क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ की अवस्थाओं से होता हुआ जो संन्यास की अवस्था में प्रवेश करता है, वह कर्मसंन्यासी कहलाता है। जो ब्रह्मचर्य-अवस्था से सीधे ही संन्यास-अवस्था में आ जाता है, वह वैराग्य-संन्यासी है। जो आध्यात्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए संन्यासी बनता है, वह विविदिशा-संन्यासी है। जो अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् संन्यास धारण करता है, वह विद्वत्-संन्यासी कहलाता है। जो मृत्युभय से आकुल हो कर संन्यासी बनता है, वह आतुर-संन्यासी है। परम-तत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—इस भाव को ले कर जो संन्यास ग्रहण करता है, वह अनिमित्त-संन्यासी है।

अन्ततः संन्यास सामाजिक जीवन व्यतीत करने की कोई विधि नहीं है वरन् चेतना की एक दशा है। जिसमें मनुष्य अपनी आध्यात्मिक निरपेक्ष सत्ता का साक्षात्कार कर लेता है। यहाँ ब्रह्माण्ड की संरचना के अनुकूल बने हुए व्यक्ति के साथ नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का एकीभाव हो जाता है। मानव आसक्ति, चिन्ता तथा रुढ़ियों के बन्धनों से मुक्त हो कर सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। आत्मा अपने को अनन्त में संस्थित कर लेती है और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानती। ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थी के कर्तव्य आत्म-उदात्तीकरण तथा आत्मोत्कर्ष (जिसकी परिणति संन्यास-अवस्था में होती है) की पुरोगामी अवस्थाएँ हैं। तीन मूलभूत आकांक्षाएँ (जिन्हें उपनिषदों में एषणा को संज्ञा दी गयी है तथा जो धन, शक्ति से युक्त, प्रसिद्धि तथा रत्यात्मकता की कामनाओं के रूप में मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों के सहश हैं) जीवन की इन चारों अवस्थाओं में निहित क्रमबद्ध शैक्षिक प्रक्रिया के प्रभाव से पराभूत हो जाती हैं।

मोक्ष की प्राप्ति (अथवा ब्रह्म में लीन हो कर मुक्त हो जाना) के उद्देश्य से मानव-स्वभाव प्राणिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक पक्षों के संरक्षण तथा रूपान्तरण के लिए उपयुक्त चार अवस्थाओं (आश्रमों) में विभक्त जीवन को व्यतीत करने की कार्यप्रणाली एक व्यवस्थित प्रयत्न है। इस आश्रम-व्यवस्था में समाज के मूल में निहित यथार्थता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसे (समाज को) सुरक्षा प्रदान की जाती है तथा इसका रूपान्तरण किया जाता है।

समाज में स्वार्थी वैयक्तिकताओं के कारण जो भिन्न-भिन्न

असम्बद्ध इकाइयाँ उत्पन्न हो गयी हैं, उनसे उत्पन्न जीवन की समस्याओं, विपत्तियों और दोषों से त्राण दिलाने में आश्रम-व्यवस्था सक्षम है। यह व्यवस्था एक ऐसी प्रक्रिया है जो न केवल व्यक्ति वरन् परिवार, समुदाय, राष्ट्र और संसार को सार्विक तथा सार्वभौम एकात्मकता का वातावरण निर्मित करने वाली महान् संरक्षक-शक्ति-धर्म-की अभिव्यक्ति के माध्यम से सञ्चालित करती है। वेद के पुरुषसूक्त में समाज के चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—को परम सत्ता का अङ्ग माना गया है। इससे यह शिक्षा मिलती है कि समाज की सावयवी संरचना विविध व्यक्तित्वों के घागों से बने हुए एक ही वस्त्र के समान है। यह उस सहकारिता की नीति की दार्शनिक पृष्ठभूमि है जिससे ब्रह्माण्ड का अनुरक्षण होता है। वर्णों तथा आश्रमों के वर्गीकरण प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व (सन्तुलन), रजस् (विकर्षण) तथा तमस् (जड़त्व अथवा अकर्मण्यता)—के विभिन्न क्रम परिवर्तनों तथा संयोगों पर आधारित हैं। ये चार आश्रम आत्मा द्वारा भूतद्रव्य पर तथा सार्विकता द्वारा बहिर्मुखता पर क्रमिक रूप से विजय प्राप्त करने की अवस्थाएँ हैं।

कर्म, बन्धन तथा मोक्ष

भारत की नैतिकता का मुख्य लक्ष्य है—वैयक्तिकता का सार्विकता में विमोचन। जीवन की क्षणभंगुरता के कारण ही आत्मा के मोक्ष की आवश्यकता है। इतना ही नहीं, संसार में मानव का जीवन कर्म-सिद्धान्त (क्रिया-प्रतिक्रिया का नियम) के कारण बहुत जटिल दिखायी पड़ता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से

कर्म का अर्थ है क्रिया। परन्तु दूसरा विशद अर्थ है—वह शक्ति जिसे प्रत्येक क्रिया किसी प्रभाव को उत्पन्न करती है। बांद में यह प्रभाव कर्म का समानार्थक हो गया। गम्भीर चिन्तक यह समझ गये कि प्रत्येक क्रिया द्वारा उत्पन्न प्रक्रिया के कारण जो कर्म-बन्धन होता है उसमें यह तथ्य निहित है कि ब्रह्माण्ड एक ऐकिक (Unitary) ढाँचा है और व्यक्ति इसके अपृथक्करणीय भाग हैं। जब व्यक्ति और ब्रह्माण्ड का यह अविच्छेद्य सम्बन्ध विस्मृत कर दिया जाता है और व्यक्ति इस भ्रम में पड़ कर कर्म करता है कि वह स्वतन्त्र कर्त्ता है तब कर्मों का उदय होता है। तत्परिणामस्वरूप प्रतिशोध की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। जीव का बन्धन ही यह प्रतिशोध है। जब कर्तृत्व की भावना का त्याग कर दिया जाता है तथा ब्रह्माण्ड के साथ एकत्व की भावना उत्पन्न हो जाती है, तब यह बन्धन समाप्त हो जाता है।

किसी लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु किया गया प्रयत्न कर्म कहलाता है। मानव मात्र अस्तित्व ही नहीं रखता; वह कुछ और भी बनना चाहता है। वैयक्तिकता में ही कर्म करने की अन्तःप्रेरणा निहित रहती है। इस प्रकार कर्म व्यक्ति के स्वभाव की ही अभिव्यक्ति है। अतः सम्पूर्ण जीवन ही कर्म है। जीवन और कर्म समानार्थक बन गये हैं। समस्त कर्मों का अत्यधिक प्रभावी कारण बाह्य दृश्य प्रपञ्च के साथ सम्बन्ध बनाने और विकसित करने की कामना है। जो व्यक्ति कामनाएँ करता है, उसे स्वयं अपनी कामनाओं के पदार्थ (काम्य पदार्थ) का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, इस कारण वह बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध में गलत कार्य करने लगता है। कर्मों के उद्देश्य तथा

प्रयोजन एकाङ्गी होते हैं, क्योंकि कर्ता का दृष्टिकोण संकुचित होता है तथा कोई विशेष कर्म करते हुए उसी दृष्टिकोण को मान्यता दी जाती है। कर्मों के समस्त परिणामों की जानकारी रखे बिना उन्हें (कर्मों को) किया जाता है। ये परिणाम समग्र रूप में ब्रह्माण्ड की संरचना के साथ शृङ्खलित होते हैं।

जिस प्रकार एक कुशल चिकित्सक रोगी को दवा देते समय उसके (दवा के) आरोग्यकर परिणामों के अतिरिक्त शरीर पर उसकी सम्भावित प्रतिक्रिया का भी ध्यान रखता है, उसी प्रकार जीवन की स्थितियों के साथ कुशलतापूर्वक निर्वाह करने हेतु विभिन्न प्रकार के कर्म करते समय उनके ऐहिक इष्ट परिणामों के अलावा उनके द्वारा उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का भी ध्यान रखना पड़ता है; क्योंकि साधारणतया जब मन कर्म के अनुभवजन्य परिणामों पर केन्द्रित रहता है, तब इन पार्श्व प्रभावों की विस्मृति हो जाती है।

व्यक्ति जब किसी कामना की पूर्ति करने के लिए तत्पर होता है, तब उसे इसका तो अनुमान होता है कि इसके लिए उसे किस प्रकार का और कितना प्रयत्न करना पड़ेगा, परन्तु वह इस बात से अनभिज्ञ होता है कि उसके कर्म का स्रोत जीवन के बहुत से पक्षों को आन्दोलित कर सकता है तथा इसके परिणाम अन्ततः व्यथा, दुःख आदि हो सकते हैं यद्यपि कामना की पूर्ति के विश्वास से उत्पन्न सम्मोहन का प्रभाव थोड़ी देर के लिए बना रहता है। इसीलिए विश्व में सुख-दुःख दोनों ही पाये जाते हैं—कामना के पहले से ही जाने हुए परिणामों के सुख तथा अप्रत्याशित परिणामों के दुःख। किसी विशेष वातावरण में

किसी व्यक्ति के जन्म लेने का कारण यह हो सकता है कि उसने अतीत में उस वातावरण में जीवन व्यतीत करने की कामना की होगी अथवा उसकी कामनाओं के अनजाने परिणाम उसके इस जन्म का कारण बने हैं ।

संसार के दुःख इसके निवासियों द्वारा अतीत में किये गये मोह-जनित कर्मों की प्रतिक्रियाओं के रूप ही हैं । संसार उन स्थितियों (या रीतियों) का नाम है जिनमें (या जिनके अनुसार) व्यक्ति अपनी कामनाओं तथा कर्मों के फलों को प्राप्त करता है । यह विश्व अपनी अन्तर्वस्तु की कामनाओं की प्रतिच्छाया है । यह इन्हीं कामनाओं का रूप है । कामनापूर्ति की वायु द्वारा कामनाएँ शुद्ध सत्त्व से जो-कुछ बटोर-समेट पाती हैं, वही यह विश्व है । बार-बार यह कहा जाता है कि कर्म-फलों की आकांक्षा किये बिना कर्म किये जाने चाहिए, क्योंकि फल हमारे हाथ में नहीं हैं । वे (कर्म-फल) ब्रह्माण्ड के उस सामान्य नियम द्वारा निर्धारित किये जाते हैं जिसे हम (जो कर्मों के पृथक्-पृथक् स्रोत हैं) न समझ सकते हैं और न उसका पालन कर सकते हैं ।

गत जन्मों में व्यक्तियों द्वारा किये कर्मों के सञ्चित प्रभाव अत्यन्त सूक्ष्म तथा आन्तरिक संस्तर पर शक्ति के (Potentiality) के संकेन्द्रित अवशिष्ट (Residual) के रूप में एकत्र हो जाते हैं । इन्हीं से कारण संसार का सञ्चटन होता है । व्यक्ति के द्वारा किये गये अतीत के समस्त कर्मों का समुच्चय, जो उसके साथ अव्यक्त रूप से सम्बद्ध रहता है, सञ्चित कर्म कहलाता है । सम्भाव्य क्षमता से युक्त यह समुच्चय जीव के साथ-साथ उसके समस्त जन्मों में तब तक अक्षुण्ण रूप से रहता है जब तक जीव

को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती। जीव के प्रत्येक जन्म का निर्धारक सञ्चित कर्मों का वह अंश होता है जो किसी विशेष वातावरण में भोगे जाने के लिए एक निश्चित आवण्टन के रूप में उस जीव के लिए अलग कर दिया जाता है। सञ्चित कर्म का यह आवण्टित अंश प्रारब्ध कर्म (वह कर्म जो अपना प्रभाव उत्पन्न करना आरम्भ कर देता है) कहलाता है।

प्रारब्ध कर्म के कारण जब जीव जन्म लेता है, तब वह नये जीवन में भी कर्म करता है। इन्हें आगामी कर्म कहते हैं। इन कर्मों के परिणाम सञ्चित कर्मों के अभुक्त अंश में जोड़ दिये जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सञ्चित कर्मों का तब तक अन्त नहीं होता (परिणामस्वरूप बार-बार जन्म लेने की प्रक्रिया का भी अन्त नहीं होता), जब तक जीव पुराने सञ्चित कर्मों में नये कर्म जोड़ना बन्द नहीं कर देता। कर्मयोग ही वह विधि है जिसके अनुसार कर्म करने से कर्म की प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती। कर्मयोग का सिद्धान्त (विशेषरूप से जिसे भगवद्गीता में निरूपित किया गया है) सार्वभौम क्रिया तथा प्रतिक्रिया के सिद्धान्त की तथा इसके नियमों से मुक्ति पाने के उपायों की व्याख्या है।

जीव का भविष्य उसके द्वारा किये गये कर्मों की परिणामी शक्ति द्वारा निर्धारित होता है। पतञ्जलि के योगसूत्रों के अनुसार जाति, आयु तथा भोग—ये तीनों कर्माशय द्वारा निर्धारित होते हैं। कर्म की प्रभुविष्णुताएँ वर्तमान अथवा आगामी जीवन में सक्रिय हो जाती हैं। एक प्रसिद्ध श्लोक में यह बात स्पष्ट रूप से उल्लिखित है—‘व्यक्ति का जीवन, उसके कर्म, धन, शिक्षा, मृत्यु—सभी का निर्धारण (जन्म लेने से पूर्व ही) माता के गर्भ में रहते हुए ही हो जाता है।’ कर्म-सिद्धान्त

दैववाद में विश्वास नहीं करता, यद्यपि कुछ लोग भ्रमवश ऐसा सोचते हैं। यह उस वैज्ञानिक नियम का निरूपण है जो गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के समान ब्रह्माण्ड में प्रत्येक स्थान पर निष्पक्ष रूप से तथा दृढ़तापूर्वक क्रियाशील है।

संसार (अथवा सांसारिक अस्तित्व का बन्धन) कर्म का ही परिणाम है। जब आत्मा संसार में जन्म लेती है, तब वह कुछ कोशों (आवरणों) से आवृत होती है। अन्तरतम तथा सूक्ष्मतम कोश को आनन्दमय-कोश कहते हैं। दूसरा है विज्ञानमय-कोश। तीसरा मनोमय-कोश है। चौथा कोश प्राणमय-कोश है तथा अन्तिम है अन्नमय-कोश। प्रत्येक पूर्ववर्ती कोश अपने परवर्ती कोश की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है तथा उस (अपने परवर्ती) कोश में व्याप्त रहता है। ये पाँचों कोश और कुछ नहीं वरन् जीवात्मा के कर्म हैं जो बाह्याभिव्यक्ति की क्रमिक सघनता में व्यक्त होते हैं। ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों में आत्मा एक, दो, तीन, चार या पाँचों कोशों के साथ जन्म ले सकती है। कोशों की सङ्ख्या इस पर निर्भर करती है कि किसी विशेष लोक में भोगे जाने वाले कर्मों की प्रबलता क्या है? मृत्यु के समय इन कोशों का प्रत्याहार सूक्ष्मता के आरोही क्रम में हो जाता है। जीवात्मा जब दोबारा जन्म लेती है, तो ये कोश प्रकट हो कर फिर सक्रिय हो जाते हैं। संसार की प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक आत्मा को मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता।

मोक्ष में आत्मा को जिस परम स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है, उसका अर्थ है पुनर्जन्म का अन्त तथा परम तत्त्व के परमानन्द का अनुभव। उपनिषदों तथा भगवद्गीता के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के बाद आत्मा संसार में नहीं लौटती। जिस प्रकार

सरिताएँ अपना नाम-रूप खो कर सागर में मिल जाती हैं, उसी प्रकार आत्मा पञ्चकोशों तथा सांसारिक सम्बन्धों (जो दिशा-काल की सीमाओं के रूप हैं) से मुक्त होकर परम तत्त्व में प्रवेश कर जाती है।

आत्मा द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के तीन उपाय हैं—सांसारिक प्रलोभनों से बचने के लिए मन का निग्रह करना, सृष्टिकर्ता (परम तत्त्व) के प्रति श्रद्धा-समर्पण के भाव रखना तथा इस बात का ज्ञान होना कि मूलतः जीव वैश्व-तत्त्व से अभिन्न है। शरीरत्याग करने से पूर्व ही जिस स्थिति में आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के अनुभव की चेतना होने लगती है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। मृत्यु के पश्चात् आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति की स्थिति को विदेहमुक्ति (अथवा देहमुक्ति मोक्ष) कहते हैं।

टिप्पणियाँ

वेद

वेदों की उपशाखाएँ हैं वेदाङ्ग तथा उपवेद । 'वेदाङ्ग' की व्युत्पत्ति 'वेद' (पवित्र ज्ञान) तथा 'अङ्ग' शब्दों से हुई है । वेद का अध्ययन करने की तैयारी के रूप में वेदाङ्गों का अध्ययन किया जाता है । वेदाङ्ग सङ्ख्या में छः हैं : (१) शिक्षा—उच्चारण तथा स्वर-शैली का विज्ञान, (२) व्याकरण, (३) छन्द—काव्य के छन्द, (४) निरुक्त—वेदों में प्रयुक्त शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ, (५) ज्योतिष—प्रायश्चित्तिक कर्मों को सम्पन्न करने हेतु शुभ तिथि तथा समय निश्चित करने के लिए की जाने वाली खगोलीय गणना का विज्ञान, तथा (६) कल्प—कर्म-काण्डों की नियम-पुस्तक । कल्पसूत्र चार प्रकार के हैं : (१) श्रौतसूत्र—वैदिक यज्ञों के नियम, (२) गृह्यसूत्र—घरों में किये जाने वाले यज्ञों के नियम, (३) धर्मसूत्र—मानव-आचरण के नियम, तथा (४) शुल्बसूत्र—यज्ञ-वेदी आदि बनाने के नियम ।

उपवेद की व्युत्पत्ति 'उप' (पूरक) तथा 'वेद' (पवित्र ज्ञान)

शब्दों से हुई है। उपवेद वेद-ज्ञान के परिशिष्ट के समान हैं। उपवेद ये हैं—आयुर्वेद—सुस्वास्थ्य का विज्ञान तथा रोगों से बचाव करने तथा उनका उपचार करने की कला। यह ऋग्वेद से सम्बन्धित है। धनुर्वेद—धनुर्विद्या तथा सामान्य रूप से युद्ध का विज्ञान। यह यजुर्वेद से सम्बन्धित है। गन्धर्ववेद—सङ्गीत का विज्ञान। इसका सम्बन्ध सामवेद से है। अथर्ववेद (अर्थशास्त्र)—अर्थशास्त्र और राजनीति का विज्ञान तथा शासनकला। यह अथर्ववेद का अङ्ग है।

उपनिषद्

वर्तमान काल में १०८ मुख्य उपनिषद् उपलब्ध हैं। इनमें मुख्य उपनिषद् हैं—केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौशीतकी और मैत्रायणी।

अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव के सिद्धान्तों की तुलना जी० डब्ल्यू० एफ० हीगेल के 'स्थापन, प्रतिस्थापन और समन्वयन का द्वन्द्ववाद' से करें।

भगवद्गीता

यद्यपि इसके सभी अठारहों अध्यायों में विभिन्न प्रकार के योगों की न्यूनाधिक विवेचना की गयी है; परन्तु तीसरे, छठे, ग्यारहवें और तेरहवें अध्यायों में क्रमशः अध्यात्मीकृत प्रवृत्तियों, ध्यान, भक्ति और ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है। दूसरे तथा अठारहवें अध्यायों में (गीता के) उपदेशों के विभिन्न पक्षों की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है।

इतिहास

महाकाव्य या इतिहास दो हैं—रामायण तथा महाभारत । रामायण दो—पूर्व और उत्तर—भागों में विभाजित है । पूर्व भाग में राम के महान् कार्यों का वर्णन है । उत्तर भाग में राम को दिये वसिष्ठ मुनि के दार्शनिक उपदेश प्रस्तुत किये गये हैं । इसका नाम योगवासिष्ठ भी है । सामान्यतया योगवासिष्ठ को महाकाव्य नहीं माना जाता । कुछ लोगों के मतानुसार यह आगमशास्त्र के अधिक निकट है । महाभारत का एक परिशिष्ट है । इसका शीर्षक 'हरिवंश' है ।

पुराण

मुख्य पुराणों की सङ्ख्या अठारह है । वे हैं—ब्रह्मा, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वामन, वाराह, मत्स्य, कूर्म, गरुड, स्कन्द तथा ब्रह्माण्ड ।

योगवासिष्ठ

इसका मुख्य अन्तर्विषय वह आदर्शवाद है जिसके साथ परम सत् के विषयगत तथा वस्तुगत पक्षों का सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है । उत्पत्ति, स्थिति तथा उपशान्ति नामक प्रकरणों में ग्रन्थ की मुख्य तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत की गयी है । वैराग्य तथा मुमुक्षु प्रकरणों में भूमिका के रूप में उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने की तैयारी से सम्बन्धित तथ्य दिये गये हैं । दो भागों में विभाजित 'निर्वाण' नामक प्रकरण में इस पुस्तक के

कुछ व्यावहारिक उपदेशों को अत्यन्त विस्तारपूर्वक समाहित किया गया है। उपदेशों को कहानी तथा उपमाओं के माध्यम से उत्कृष्ट व्याख्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसकी विषय-सामग्री में उच्च कोटि के दार्शनिक तत्त्व निहित हैं।

संसार के अन्दर संसार के सिद्धान्त की तुलना ए० एन० ह्लाइटहेड के 'अन्तर्यानी क्रमविकास', 'बोध', 'शाश्वत पदार्थ' तथा 'संलयन' के सिद्धान्त से करें।

स्मृति-ग्रन्थ

स्मृति-ग्रन्थों की सङ्ख्या अठारह है। इनके नाम हैं—मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, विष्णु, दक्ष, संवर्त, व्यास, हारित, शततप, वसिष्ठ, यम, आपस्तम्ब, गौतम, देवल, शङ्ख-लिखित, उशनस्, अत्रि तथा शौनक। इनमें प्रथम तीन ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

वेद-संहिता का पुरुषसूक्त

वेदों का पुरुषसूक्त महान् द्रष्टा नारायण ऋषि की अन्त-
र्दृष्टि से उद्भूत बहुविध सृष्टि के माध्यम से देखी गयी
ब्रह्माण्डीय दिव्य सत्ता को सम्बोधित एक सशक्त सूक्त ही नहीं
है, अपितु यह सत्यान्वेषक साधक के लिए परम चेतना की स्थिति
में प्रवेश करने के लिए एक सुगम मार्ग भी है। यह ऐसी
शक्तियों से आवेशित है जो साधक में भागवती चेतना उत्पन्न
करने के लिए पूर्णरूप से सक्षम हैं। प्रथमतः, सूक्त के ऋषि
नारायण हैं। वे महान् ऋषियों से भी अधिक महान् हैं। भाग-
वत में कहा गया है कि वही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिनके मन
को किसी प्रकार की कामना विचलित नहीं कर पायी। महा-
भारत के अनुसार उनकी शक्ति का अनुमान देवता भी नहीं लगा
सकते। ऐसे महान् ऋषि इस सूक्त के द्रष्टा बने तथा उन्होंने
परम पुरुष को सम्बोधित स्तोत्र के रूप में इसे अभिव्यक्त
किया।

दूसरी बात यह है कि सूक्त के मन्त्र ऐसे छन्द में बद्ध किये
गये हैं जो मन्त्रोच्चारण के समय एक विशेष प्रकार की

आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न करते हैं। तीसरे, जिस स्वर (Intonation) में मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, वह मन्त्रों के सही अर्थ को सम्प्रेषित करने में सहायक है। स्वर में किसी प्रकार की त्रुटि होने से मन्त्रों का प्रभाव नितान्त भिन्न प्रकार का होगा। चौथी बात यह है कि इस सूक्त में जिस देवता को सम्बोधित किया गया है, वह दिक्काल की मूर्त अथवा प्रक्षिप्त वस्तु नहीं है। वह (देवता) एक परम सत्ता है जो दिशा और काल से परे है तथा अनुभव का अविभाज्य परम सारभूत सत्त्व है। पाँचवीं बात यह है कि इस सूक्त में पुरुष को एक ब्रह्माण्डव्यापक परम सत्ता के रूप में तो प्रस्तुत किया ही गया है, उसकी सत्ता का अनुभव अत्यन्त आभ्यन्तरिक भी है तथा पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान (बोध) से भिन्न है।

सूक्त का प्रारम्भ इस स्वीकरण से होता है कि सृष्टि के समस्त शिर, चक्षु तथा चरण पुरुष के ही शिर, चक्षु तथा चरण हैं। यहाँ यह आश्चर्यजनक सत्य ध्वनित हो रहा है कि हम अनेक वस्तुएँ, शरीर, पदार्थ, व्यक्ति, रूप, रङ्ग नहीं देखते, न ही हम अनेक ध्वनियाँ ही श्रवण करते हैं। वस्तुतः हम एक ही परम पुरुष के विभिन्न अङ्गों को देखते हैं। जब हम किसी व्यक्ति के हाथ, पैर, कान, आँख या नाक अलग-अलग देखते हैं, तब हम ऐसा नहीं सोचते कि हम बहुत-सी वस्तुएँ देख रहे हैं। उस समय हम किसी एक ही व्यक्ति को अपने सामने देखते हैं। उस व्यक्ति के शरीर के विभिन्न अङ्गों को देख कर हमारे मन में अलग-अलग सत्ताधारी पदार्थों का विचार नहीं उठता। इसका कारण यह है कि उस समय शरीर के विभिन्न अङ्गों का ध्यान किये बिना चेतना की एक ही सम्पूर्ण इकाई के द्वारा हम एक

पूर्ण व्यक्ति को देखते होते हैं। इसी प्रकार हमें सृष्टि को अलग-अलग व्यक्तियों या वस्तुओं के समूह के रूप में नहीं देखना है। न ही उनके प्रति हमें अलग-अलग प्रकार का व्यवहार करना है या विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण रखने हैं। समूची सृष्टि एक ब्रह्माण्डव्यापक पुरुष है जो देदीप्यमान तेजस्वी सत्ता के रूप में दृष्टिगोचर है, जो सृष्टि के समस्त चक्षुओं से निहारता है, सृष्टि के समस्त शिरो से सहमति इङ्गित करता है, समस्त ओष्ठों से मुस्कराता है तथा समस्त जिह्वाओं से बोलता है। यह है पुरुष-सूक्त का पुरुष। ऋषि नारायण ने इसी ईश्वर का स्तुति-गान किया है। यह ईश्वर किसी धर्म का ईश्वर नहीं है। न ही यह ईश्वर अनेक देवों में से कोई देव है। केवल यही ईश्वर हर स्थान पर हर क्षण उपस्थित रह सकता है।

अपने विचारों को विस्तारित करके उन्हें ब्रह्माण्ड को देखने-समझने के सही ढङ्ग से प्रशिक्षित करने के पश्चात् हमें एक भावोत्तेजक धक्के की अनुभूति होती है; क्योंकि तब कामनाओं का मूल ही नष्ट होता दिखायी पड़ने लगता है। जब समूची सृष्टि एक परम पुरुष ही है तो कामनाओं का अस्तित्व कैसे बना रह सकता है ! जब मन किसी भौतिक वस्तु, मानसिक दशा या सामाजिक परिस्थिति की कामना करता है, तब वह भ्रम और अज्ञान की स्थिति में होता है। सूक्त के उपर्युक्त एक ही क्रान्तिकारी विचार-बिन्दु से मन पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह भ्रम-अज्ञान तत्काल ही समाप्त हो जाता है। हम अपने सामने एक ही परम सत्ता (एकं सत्) का दर्शन करने लगते हैं—इच्छित या अनिच्छित नानारूपत्व अथवा विविधता का नहीं।

और यह भावोत्तेजक धक्का इतने तक ही सीमित नहीं है।

किसी भी बुद्धिमान चिन्तक को सूक्त का यह निहितार्थ समझने में देर नहीं लगती कि वह स्वयं परम पुरुष के शिरो या अङ्गों में से कोई एक शिर या अङ्ग है। यह दशा जिसमें चिन्तन करना भी उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार परम पुरुष चिन्तन करता है (क्योंकि चिन्तन करने का कोई दूसरा तरीका नहीं है—और यह तरीका है सृष्टि के समस्त व्यक्तियों और वस्तुओं के माध्यम से युगपत् चिन्तन करना) एक ऐसी दशा है जो मानवीय ढङ्ग से सोचने तथा जीवन-निर्वाह करने जैसी नहीं है। जिस प्रकार हम मस्तिष्क के किसी अकेले कोशाणु द्वारा नहीं वरन् समग्र मस्तिष्क द्वारा चिन्तन करते हैं, उसी प्रकार कोई अकेला चिन्तक जो परम पुरुष के 'सार्वभौम चिन्तन-केन्द्र' (जो प्रत्येक स्थान पर है, परन्तु जिसकी परिधि किसी स्थान पर दृष्टि-गोचर नहीं होती) का केवल एक भाग है, उस प्रकार से नहीं सोच सकता जिस प्रकार जीव (अथवा व्यक्तिक अवास्तविक चिन्तन-केन्द्र) सोचता है। इसके अलावा कोई अन्य मार्ग नहीं है (न अन्यः पन्थ विद्यते)। यह अति-मानसी चिन्तन है। यही दिव्य ध्यान है। सूक्त के अनुसार यही वह यज्ञ है जिसे देवताओं ने युगादिकाल के प्रारम्भ में सम्पन्न किया था।

साधक के लिए पुरुषसूक्त इतना ही नहीं, और भी कुछ है। उपर्युक्त विवरण से यह भ्रम उत्पन्न नहीं होना चाहिए कि हम ईश्वर को अपने चक्षुओं से उसी प्रकार देख सकते हैं, जिस प्रकार उदाहरणतः, हम एक गाय देखते हैं, यद्यपि यह सत्य है कि समस्त वस्तुएँ परम पुरुष हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पुरुष न तो द्रष्टा है और न दृश्य। इस तथ्य को समझना कठिन नहीं है। जब समस्त वस्तुएँ पुरुष हैं, तो दृश्य पदार्थ कहाँ बचे ?

प्रतीयमानतः जो दृष्ट पदार्थ हैं, वे भी तो द्रष्टा परम पुरुष के शिर हैं। इस प्रकार दृष्ट पदार्थों के अनस्तित्व में द्रष्टा स्वयं अपने को देख रहा है। दृष्टा द्वारा अपने को देखने की प्रक्रिया को दिक्काल में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने जैसी प्रक्रिया नहीं मानना चाहिए। अन्यथा अस्तित्वहीन पदार्थों की फिर से सृष्टि करनी पड़ेगी। वस्तुतः द्रष्टा स्वयं को चक्षुओं से नहीं वरन् परम चेतना में संस्थित हो कर देखता है। यह वैश्व सत्ता में समस्त इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों का समाहित हो जाना है। परम पुरुष का इस प्रकार मनन करने से, जो अत्यन्त सामान्य स्थिति है, ईश्वर का साक्षात्कार एक क्षण में ही हो जाता है।



* ॐ *

दिव्य जीवन संघ

(डिवाइन लाइफ सोसायटी)

की सदस्यता

डिवाइन लाइफ सोसायटी (The Divine Life Society) एक सम्प्रदाय-निरपेक्ष संस्था है जिसके विशाल दृष्टि-क्षेत्र में सभी धर्मों के और सामान्य रूप से आध्यात्मिक जीवन के सर्वमान्य मौलिक सिद्धान्त समाहित हैं। कोई भी व्यक्ति, जिसकी सत्य, अहिंसा तथा शुचिता के आदर्श में निष्ठा है, इस संस्था का सदस्य बन सकता है। यह संस्था सभी वादों और धार्मिक रूढ़ियों को समान रूप से सम्मान प्रदान करती है। संस्था के सिद्धान्तों, दार्शनिक मान्यताओं तथा उपदेशों में सभी मतों और सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का अनुकूलन होने से इसके सदस्यों की पारस्परिक भूमिका तथा धार्मिक मान्यताएँ पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी वे इनके आधार पर न तो मतभेद को मान्यता देते हैं और न विघटनकारी मनोवृत्तियों को ही प्रश्रय देते हैं। सच्चे आत्म-ज्ञान में तथा 'अहं' को विलय कर उसकी

[२०७]

परिधि से ऊपर उठ जाने में ही आध्यात्मिक साधना का रहस्य निहित है'—इस तथ्य को प्रकट करने तथा प्रत्येक प्राणी में भागवतीय चेतना की सम्भावनाएँ हैं तथा 'भले बन कर और भला करके' अपनी बाह्य और अन्तः प्रकृति पर नियन्त्रण-स्थापन द्वारा इस अन्तर्स्थित भागवतीय चेतना के अभिव्यक्तिकरण का प्रयास करना ही प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-लक्ष्य है। संस्था की प्रवृत्तियाँ मानवोपकारी, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक कार्यों के लिए समर्पित हैं। उपर्युक्त आदर्श-सम्पन्न कोई भी व्यक्ति डिवाइन लाइफ सोसायटी (दिव्य जीवन सङ्घ) का सहर्ष सदस्य बन सकता है।

प्रति सदस्य का वार्षिक सदस्यता-शुल्क १० रुपये है और यह शुल्क प्रति-वर्ष भुगतान करके नवीनीकरण कराना होता है। प्रत्येक नये सदस्य का प्रवेश-शुल्क जो कि केवल एक बार ही देय है, ११ रुपये है। प्रार्थी के यथावत् पूर्ति तथा हस्ताक्षरित किये हुए प्रवेश-पत्र तथा उपर्युक्त शुल्क के प्राप्त होने पर उसे प्रारम्भिक साधना के कुलक-रूप स्वामी शिवानन्द जी द्वारा रचित 'एसेंस आफ योग' नामक अंग्रेजी पुस्तक की एक प्रति, 'जप-माला', आध्यात्मिक दैनन्दिनी के कुछ पृष्ठ तथा सङ्कल्प-पत्र आदि साधना-सम्बन्धी प्रकाशन दिये जाते हैं। सदस्यों को संस्था की अधिकारिक अंग्रेजी पत्रिका 'डिवाइन लाइफ' अथवा हिन्दी पत्रिका 'योग-वेदान्त' भी प्राप्त होती है, इसके लिए उन्हें कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं चुकाना होता है। सदस्यता में सम्मिलित होने के लिए साधकों का हार्दिक स्वागत है।

Gorakhpur

332562

Nagil mistay

❀ मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय ❀
आगत क्रमांक ... २६२८ ...
दिनांक

18.00 Maharajganj to Varanasi
6.00 eating
1.00 Bus → Jaitpur
1.50 Khakhra
1.50 पानी water
4.00 Tempu Kant to Lanka

asr

2

